नई दिल्ली
रविवार, 05 जुलाई, 2026, मूल्य-15.00
राष्ट्रीय
वर्ष-8 अंक-37 पृष्ठ- 8
RNI: DELHIN / 2018 / 76679
Postal Reg. No. DL(C)-05/1425/2025-27
License To Post Without Pre Payment No. U(C)-164/2025-27
Magazine Post Reg. No. DL(DS)-31/MP/25-26-27

संडे नवजीवन

Freedom is in Peril, Defend it with all your might Jawaharlal Nehru

चढ़ावा चोरी से निबटने की जिम्मेदारी योगी पर, लेकिन पीएमओ को मंदिर के कामकाज पर पकड़ मजबूत करने का बहाना मिला 6

बंगाल में लड़ना होगा लोकतांत्रिक पतन से 3,4

बढ़ी गैस कीमत का संकट 8

www.navjivanindia.com | @navjivanindia | www.nationalheraldindia.com | www.qaumiawaz.com

फिर एक बार साबित करो कि तुम यहीं के हो

शुरू हो चुकी है नई बहस कि आखिर भारतीय अपनी नागरिकता का प्रमाण कैसे दे सकते हैं?

हरजिंदर

अगर पासपोर्ट भी नागरिकता साबित नहीं कर सकता, तो फिर क्या कर सकता है?

हाल ही में जब विदेश मंत्रालय के अधिकारियों ने यह सफाई दी कि भारतीय पासपोर्ट 'मुख्य रूप से एक यात्रा दस्तावेज' है और यह नागरिकता का अंतिम प्रमाण नहीं, तो यह महज एक कानूनी व्याख्या नहीं रही। बयान ने देश में एक नई बहस छेड़ दी कि आखिर भारतीय अपनी नागरिकता का प्रमाण कैसे दे सकते हैं?

विदेश मंत्रालय के आंकड़ों बताते हैं कि भारत की नौ प्रतिशत से भी कम आबादी के पास वैध पासपोर्ट है। यानी तकरीबन 12 से 13 करोड़ लोगों के पास। इनके लिए पासपोर्ट केवल विदेश यात्रा की अनुमति देने वाला दस्तावेज नहीं, बल्कि भारतीय गणराज्य की ओर से दिया गया सर्वोच्च भरोसे का प्रमाण है। इस पर राष्ट्रीय प्रतीक होता है, यह दुनिया भर में भारतीय राष्ट्रीयता की पहचान के रूप में स्वीकार किया जाता है और विदेशी सरकारें इसे इस विश्वास के साथ मान्यता देती हैं कि भारत ने इसे जारी करने से पहले धारक की नागरिकता का सत्यापन किया होगा। ऐसे में यदि पासपोर्ट भी नागरिकता का निर्णायक प्रमाण नहीं है, तो फिर कौन-सा दस्तावेज है?

यह विवाद 24 जून को पासपोर्ट सेवा दिवस के अवसर पर आयोजित मीडिया ब्रीफिंग के दौरान शुरू हुआ। द हिंदू के एक संवाददाता ने पूछा कि यदि किसी भारतीय नागरिक का नाम मतदाता सूची से हटा दिया जाए, तो क्या वह अपने वैध पासपोर्ट के आधार पर अदालत में अपनी नागरिकता साबित कर सकता है? जवाब में विदेश मंत्रालय ने कहा कि कानूनी रूप से नागरिकता का निर्धारण नागरिकता अधिनियम, 1955 के तहत होता है, जबकि पासपोर्ट पासपोर्ट अधिनियम, 1967 के अंतर्गत जारी किए जाते हैं। इसलिए पासपोर्ट स्वयं नागरिकता प्रदान नहीं करता।

पूर्व विदेश सचिव निरुपमा मेनन राव ने द इंडियन एक्सप्रेस के एक लेख में इस बहस की बारीकियों को समझाने की कोशिश की। उनके अनुसार, अधिकांश भारतीयों के लिए पासपोर्ट गणराज्य द्वारा जारी किया गया सबसे अधिक प्रामाणिक दस्तावेज है। यह धारक की पहचान दर्ज करता है और दुनिया भर में इसलिए स्वीकार किया जाता है क्योंकि विदेशी सरकारों को भरोसा होता है कि भारत ने इसे जारी करने से पहले उसकी राष्ट्रीयता की पुष्टि की है।

राव यह भी कहती हैं कि पासपोर्ट नागरिकता का निर्माण नहीं करता। किसी अदालत में नागरिकता पर विवाद खड़ा हो जाए, तो अंतिम फैसला पासपोर्ट के आधार पर नहीं होगा। कानूनी दृष्टि से यह तर्क सही हो सकता है, लेकिन जिस समय नागरिक पहले से ही अपने पहचान संबंधी दस्तावेजों को लेकर असमंजस में हों, उस समय ऐसी व्याख्या उनकी आशंकाओं को और गहरा कर देती है।

पिछले कुछ वर्षों में नागरिकों द्वारा सबसे अधिक इस्तेमाल किए जाने वाले कई दस्तावेजों की विश्वसनीयता पर सवाल खड़े किए गए हैं। आधार पहचान का प्रमाण है, लेकिन राष्ट्रीयता का नहीं। मतदाता पहचान पत्र केवल योग्य नागरिकों को जारी किया जाता है, फिर भी उसे नागरिकता का पूरा प्रमाण नहीं माना जाता। पैन कार्ड भी इस कसौटी पर खरा नहीं उतरता। अब यदि पासपोर्ट भी इस सूची में शामिल हो जाए, तो आम नागरिक के मन में असुरक्षा पैदा होना स्वाभाविक है।

पिछले एक दशक में राष्ट्रीय जनसंख्या रजिस्टर (एनपीआर), राष्ट्रीय नागरिक रजिस्टर (एनआरसी), नागरिकता संशोधन अधिनियम (सीएए) और अब मतदाता सूचियों के विशेष गहन पुनरीक्षण (एसआईआर) जैसी प्रक्रियाओं ने नागरिकता को लेकर असाधारण बेचैनी पैदा की है। इन सभी पहलों की कानूनी प्रकृति भले अलग-अलग हो, लेकिन आम नागरिक के अनुभव में इनका संदेश एक ही रहा है- अपनी नागरिकता बार-बार साबित करो।

अब सवाल सिर्फ यह नहीं रह गया कि कौन भारतीय है। सवाल यह भी है कि कौन कल्याणकारी योजनाओं का पात्र है, किसे मतदान का अधिकार मिलेगा और किसे नहीं। नागरिकता अब एक स्थायी संवैधानिक दर्जे से अधिक एक ऐसी स्थिति बन गई है, जिसे समय-समय पर प्रमाणित करना पड़ता है।

> आज असली बहस पासपोर्ट की वैधता पर नहीं, बल्कि राज्य और नागरिक के रिश्ते पर है। क्या शासन का उद्देश्य लोगों को व्यवस्था में शामिल करना होना चाहिए, या फिर 147 करोड़ भारतीयों से बार-बार यह साबित करवाना कि वे वास्तव में इसी देश के नागरिक हैं?

विडंबना यह है कि जिन दस्तावेजों की मांग की जा रही है, वे सभी के पास उपलब्ध नहीं हैं। जन्म पंजीकरण देश में अपेक्षाकृत हाल के वर्षों में ही व्यापक हुआ है। लाखों लोगों के रिकॉर्ड अधूरे हैं, नामों की वर्तनी अलग-अलग दर्ज है, पते बदल चुके हैं या दस्तावेज समय के साथ खो चुके हैं। सबसे अधिक कठिनाई बुजुर्गों, ग्रामीण आबादी, प्रवासी मजदूरों और आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों को होती है।

असम में एनआरसी की प्रक्रिया पहले ही दिखा चुकी है कि दस्तावेजों में छोटी-सी कमी भी वर्षों से रह रहे नागरिकों को संदेह के घेरे में ला सकती है।

कांग्रेस के वरिष्ठ नेता और पूर्व विदेश मंत्री सलमान खुर्शीद ने इस विरोधाभास को एक वाक्य में समेट दिया। उन्होंने कहा, 'पासपोर्ट अधिनियम यह नहीं कहता कि पासपोर्ट आपकी नागरिकता का प्रमाण है, लेकिन यह जरूर कहता है कि यदि आप भारतीय नागरिक नहीं हैं, तो आपको पासपोर्ट मिलेगा ही नहीं।'

वकील और सामाजिक कार्यकर्ता आयुष्मान पांडे भी मानते हैं कि पासपोर्ट को नागरिकता से अलग करके देखने से कानूनी और व्यावहारिक दोनों तरह की समस्याएं पैदा होती हैं। आखिर पासपोर्ट जारी करने से पहले विस्तृत दस्तावेजी जांच, पुलिस सत्यापन और अनेक स्तरों पर पुष्टि की जाती है। दुनिया के अधिकांश देशों में भी पासपोर्ट वही दस्तावेज है जिसके माध्यम से राज्य किसी व्यक्ति की राष्ट्रीयता की पुष्टि करता है।

इसी संदर्भ में वरिष्ठ पत्रकार आर. राजगोपाल का मामला व्यापक चर्चा का विषय बन गया है। द टेलीग्राफ के पूर्व संपादक राजगोपाल का नाम पश्चिम बंगाल में एसआईआर प्रक्रिया के दौरान मतदाता सूची से हटा दिया गया था। उन्होंने बताया कि इसके कारण उनके पासपोर्ट के नवीनीकरण में पुलिस सत्यापन अटक गया और वे अपनी बेटी की शादी में शामिल होने के लिए विदेश नहीं जा सके।

राजगोपाल लिखते हैं कि पश्चिम बंगाल के लगभग 27 लाख अन्य लोगों की तरह उन्हें भी तथाकथित 'तार्किक विसंगतियों' के आधार पर मतदाता सूची से बाहर कर दिया गया। मैट्रिक प्रमाणपत्र सहित कई दस्तावेज जमा करने के बावजूद उन्हें कोई कारण नहीं बताया गया। उनकी अपील अभी भी न्यायाधिकरण में लंबित है।

उनकी परेशानी यहीं खत्म नहीं हुई। पासपोर्ट नवीनीकरण के लिए मार्च 2026 में बायोमेट्रिक प्रक्रिया पूरी करने के बावजूद पुलिस सत्यापन इसलिए लंबित रहा क्योंकि उनका नाम मतदाता सूची में नहीं था। वैकल्पिक दस्तावेज भी स्वीकार नहीं किए गए। अंततः उन्हें सूचित किया गया कि कोलकाता पुलिस ने उनके विरुद्ध प्रतिकूल रिपोर्ट भेजी है और क्षेत्रीय पासपोर्ट कार्यालय में तत्काल उपस्थित होने को कहा गया, जबकि तारीख लगभग एक महीने बाद की दी गई।

राजगोपाल का मामला इसलिए महत्वपूर्ण हो गया क्योंकि इसने एक बड़ा सवाल खड़ा कर दिया। यदि सार्वजनिक जीवन में दशकों से सक्रिय एक प्रतिष्ठित पत्रकार इस तरह की प्रशासनिक उलझनों में फंस सकता है, तो एक साधारण नागरिक के सामने कैसी मुश्किलें खड़ी होंगी?

अवैध प्रवासियों या 'घुसपैठियों' को लेकर बढ़ती राजनीतिक बयानबाजी ने इन आशंकाओं को और गहरा किया है। विशेष रूप से मुस्लिम समुदाय सहित अनेक अल्पसंख्यक समूहों को यह भय है कि दस्तावेजों की यह बढ़ती मांग उन पर असमान रूप से असर डाल सकती है।

शायद यह कहना कानूनी रूप से सही हो कि नागरिकता का स्रोत पासपोर्ट नहीं, बल्कि नागरिकता अधिनियम है। लेकिन किसी भी लोकतंत्र में केवल कानूनी तकनीकीताएं ही मायने नहीं रखतीं। उतना ही महत्वपूर्ण यह भी है कि राज्य अपने नागरिकों में भरोसा पैदा करे या संदेह।

आज असली बहस पासपोर्ट की वैधता पर नहीं, बल्कि राज्य और नागरिक के रिश्ते पर है। क्या शासन का उद्देश्य लोगों को व्यवस्था में शामिल करना होना चाहिए, या फिर 147 करोड़ भारतीयों से बार-बार यह साबित करवाना कि वे वास्तव में इसी देश के नागरिक हैं? ■

निशाने पर धार्मिक आज़ादी

कोई भी लोकतंत्र फल-फूल नहीं सकता अगर समाज सेवा के सामान्य कार्य भी संदेह के दायरे में आ जाएं। विदेशी फंडिंग में पारदर्शिता आवश्यक, पर कानूनी निष्पक्षता भी जरूरी

ए.जे. फिलिप

श्रीराम जन्मभूमि तीर्थ क्षेत्र का भारत के सार्वजनिक जीवन में अनूठा स्थान है। अयोध्या विवाद पर सुप्रीम कोर्ट के फैसले के बाद 5 फरवरी 2020 को केन्द्र सरकार द्वारा गठित इस ट्रस्ट को राम मंदिर के निर्माण और प्रबंधन का जिम्मा सौंपा गया, जो यकीनन आजाद भारत की राजनीतिक रूप से सबसे महत्वपूर्ण धार्मिक परियोजना है।

18 अक्तूबर 2023 को, ट्रस्ट को नई दिल्ली के पार्लियामेंट स्ट्रीट स्थित एसबीआई शाखा के जरिये विदेशी दान प्राप्त करने के लिए विदेशी अंशदान (विनियमन) अधिनियम (एफसीआरए) के तहत अनुमति दी गई। देश भर के एफसीआरए के तहत पंजीकृत संगठनों को इसी शाखा के जरिये विदेशी योगदान प्राप्त करना होता है। यह व्यवस्था गोपनीयता की कोई गुंजाइश नहीं छोड़ती। हर लेनदेन इलेक्ट्रॉनिक रूप से दर्ज होता है और अधिकारी तत्काल इसे देख सकते हैं।

खैर, राम मंदिर ट्रस्ट अब खुद को असहज स्थिति में पा रहा है। एसआईटी को श्रद्धालुओं द्वारा चढ़ाए गए सोने-चांदी के उपहारों सहित दान की कथित चोरी की जांच के लिए अतिरिक्त समय दिया गया है। ट्रस्ट के महासचिव चंपत राय और ट्रस्टी अनिल मिश्रा ने इस्तीफा दे दिया है जबकि इसके आठ कर्मचारी गिरफ्तार हुए हैं।

ऐसी रिपोर्टें भी हैं कि राय आरंभिक दौर में ही पुलिस शिकायत दर्ज करने के लिए निकले थे, लेकिन एक टेलीफोन कॉल आने के बाद वापस लौट आए, और यह दिखाने का प्रयास किया गया कि सब ठीक है। अब अटकलें हैं कि एफसीआरए प्रावधानों के कथित उल्लंघन की जांच के लिए सीबीआई और प्रवर्तन निदेशालय को भी लगाया जा सकता है।

*

संसद के पिछले बजट सत्र के दौरान सरकार ने एफसीआरए में ऐसे संशोधन पेश किए जो अधिकारियों को उल्लंघन करने वाले संगठनों की संपत्तियों को कुर्क और जब्त करने का अधिकार दे देंगे। महत्वपूर्ण बात यह है कि इस प्रस्ताव में कथित उल्लंघन के लिए कोई न्यूनतम सीमा निर्धारित नहीं की गई है।

इससे भी अधिक चिंताजनक इसकी प्रक्रिया है। एक निर्दिष्ट अधिकारी, जो जिला मजिस्ट्रेट जितना कनिष्ठ भी हो सकता है, संपत्ति को जब्त करने और उसकी नीलामी करने का आदेश दे सकता है, जिसकी आय भारत सरकार की संचित निधि में जाएगी। इसके लिए किसी पूर्व न्यायिक निर्णय की आवश्यकता नहीं है।

कोई भी गंभीरता से यह यकीन नहीं करता कि राम मंदिर की कभी नीलामी होगी। न ही किसी को ऐसे परिणाम की कामना करनी चाहिए। यह मंदिर लाखों भक्तों की आस्था और योगदान पर खड़ा है, जिन्होंने ट्रस्ट को एफसीआरए की मंजूरी मिलने से पहले ही कथित तौर पर 3,500 करोड़ रुपये से अधिक का दान दे दिया था।

फिर भी कानून सभी संस्थानों के लिए तैयार किए जाते हैं, न कि केवल उनके लिए जिनके खिलाफ वे वर्तमान में लक्षित हैं। कार्यपालिका को आज सौंपी गई शक्ति का प्रयोग कल बहुत अलग राजनीतिक परिस्थितियों में किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, एफसीआरए पहली बार 1976 में आपातकाल के दौरान लागू किया गया था। शायद इस मुद्दे की राजनीतिक संवेदनशीलता को समझते हुए, सरकार ने विपक्षी दलों की व्यापक आलोचना के बाद संसद में प्रस्तावित संशोधनों को आगे नहीं बढ़ाया। इसके बजाय, इसने अधीनस्थ विधानों के जरिये इनमें से कई लक्ष्यों को हासिल कर लिया।

ये नियम जवाबदेही के दायरे को काफी बढ़ा देते हैं। पहले, अनुपालन की जिम्मेदारी मुख्य रूप से किसी संगठन के मुख्य कार्यकारी या प्रमुख पदाधिकारी की होती थी। अब, शासी बोर्ड के अध्यक्ष और प्रत्येक सदस्य को भी व्यक्तिगत रूप से जवाबदेह ठहराया जा सकता है। इस प्रकार किसी धर्मार्थ संस्थान के बोर्ड में सेवा करना कानूनी रूप से एक जोखिम भरा दायित्व बन गया है। इसके नतीजे अभी से महसूस किए जा रहे हैं।

'चर्च्स ऑक्सिलियरी फॉर सोशल एक्शन' (कासा), जो भारत के सबसे पुराने और सबसे सम्मानित मानवीय संगठनों में से एक है, दशकों तक देश भर में राहत गोदामों का संचालन करता था। चाहे बिहार में बाढ़ हो, गुजरात में भूकंप हो या पूर्वी तट पर चक्रवात, इसके स्वयंसेवक कुछ ही घंटों में आवश्यक आपूर्ति पहुंचाने की स्थिति में होते। आज, आपातकालीन मानवीय कार्य भी प्रक्रियात्मक आवश्यकताओं के कारण विलंबित होने के जोखिम में है। किसी राज्य में राहत कार्य शुरू करने के लिए, संगठन को पहले नियामक औपचारिकताएं पूरी करनी पड़ सकती हैं, यदि पहले से मंजूरी नहीं ली गई हो तो। किसी प्राकृतिक आपदा की स्थिति में इसके क्या नतीजे हो सकते हैं, इसकी कल्पना कीजिए!

एक के बाद एक हुए एफसीआरए संशोधनों का कुल मिलाकर प्रभाव गंभीर रहा है। स्वैच्छिक संगठनों में कार्यरत हजारों लोगों (जो जरूरी नहीं कि ईसाई या मुस्लिम हों) ने नौकरियां खो दी हैं, जबकि कई संस्थान जो सरकार के कल्याणकारी प्रयासों के पूरक थे, अब जीवित रहने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। नियमों का दायरा वित्तीय जवाबदेही से आगे बढ़कर ऐसे संगठनों से जुड़े लोगों के व्यक्तिगत जीवन तक पहुंच गया है। यहां तक कि बोर्ड के सदस्यों द्वारा लिखी गई किताबों या लेखों का विवरण भी अधिकारियों को देना पड़ सकता है। वित्तीय विनियमन एक बात है, बौद्धिक गतिविधि की निगरानी करना बिल्कुल दूसरी बात है।

आम राजनीतिक विमर्श लगातार यह संकेत देता रहा है कि ईसाई संगठनों को धर्म परिवर्तन के लिए विदेशों से मोटा पैसा मिलता है। फिर भी एफसीआरए का ढांचा ही इस दावे का खंडन करता है। प्रत्येक विदेशी योगदान एक निर्दिष्ट बैंक शाखा से होकर गुजरता है, जहां अधिकारी वास्तविक समय में इसकी निगरानी कर सकते हैं। अगर अवैध फंडिंग है, तो उसकी पहचान लगभग तुरंत ही की जा सकती है। इसके अलावा, यह आरोप कि भारतीयों को केवल विदेशी धन के जरिये आस्था बदलने के लिए प्रेरित किया जा सकता है, भारतीय नागरिकों की गरिमा को कम करता है। धार्मिक आस्था शायद ही कभी इतनी कारोबारी होती है।

ईसाई स्वैच्छिक संगठनों के रिकॉर्ड को भी स्वीकार किया जाना चाहिए। पीढ़ियों से उन्होंने स्कूल, अस्पताल, कुष्ठाश्रम, अनाथालय और सामुदायिक विकास कार्यक्रम स्थापित किए हैं, अक्सर उन क्षेत्रों में जहां स्वयं राज्य की उपस्थिति बहुत कम थी। विलियम केरी शिक्षा को सामाजिक सुधार के केन्द्र में मानते थे। सेंट स्टीफंस ने दिल्ली में आधुनिक स्वास्थ्य सेवा की शुरुआत की।

> कानून सभी संस्थानों के लिए तैयार किए जाते हैं, न कि केवल उनके लिए जिनके खिलाफ वे वर्तमान में लक्षित हैं। जब दान को संदेह से, सेवा को अविश्वास से और प्रार्थना को आशंका से देखा जाने लगे, तो लोकतंत्र खुद डगमगाएगा

राम मंदिर चंदा चोरी मामले में आरोपियों को जेल ले जाती पुलिस

शेष पेज 2 पर ▸

संडे नवजीवन
रविवार, 05 जुलाई, 2026 Iwww.navjivanindia.com

भारत में नागरिकता का वैध प्रमाण क्या है?

जब विदेश मंत्रालय के किसी अधिकारी ने घोषणा की कि पासपोर्ट महज एक यात्रा दस्तावेज है, तो ए.जे. फिलिप ने विदेश मंत्री को खुला पत्र लिखा

प्रिय डॉ. एस. जयशंकर,

मुझे पहला पासपोर्ट 1979 में मिला था, जब भोपाल के पासपोर्ट कार्यालय का उद्घाटन तब के विदेशमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने किया था। उस उद्घाटन की रिपोर्टिंग करना 'द हितवाद' के लिए मेरा असाइनमेंट था, जिसका कार्यालय उसी इमारत में था।

इसके फौरन बाद, मुझे मेरा पासपोर्ट मिल गया। उसमें हाथ से लिखी प्रविष्टियां थीं। इसके पहले पन्ने पर 'राष्ट्रीय स्थिति' शब्द वाला स्टैंप लगा था। उसके ठीक नीचे, बड़े अक्षरों में लिखा थाः 'भारत का नागरिक'।

मैं बेहद खुश था, यह मानकर कि मैंने खुद को एक भारतीय नागरिक प्रमाणित करने वाला सबसे प्रामाणिक दस्तावेज हासिल कर लिया है, जो मुझे उन सभी अधिकारों और विशेषाधिकारों का हकदार बनाता है जो नागरिकता के साथ आते हैं। मेरे पास आज भी मेरे सभी पुराने पासपोर्ट सुरक्षित हैं और हर में मेरी राष्ट्रीयता 'भारतीय' दर्ज है। इसलिए मुझे सदमा लगा जब आपके मंत्रालय के प्रवक्ता ने कहा कि पासपोर्ट नागरिकता का प्रमाण नहीं, यह अंतरराष्ट्रीय यात्रा को सुगम बनाने वाला दस्तावेज भर है। यह स्पष्टीकरण पासपोर्ट सेवा दिवस पर जारी किया गया-ऐसा दिन, जिसके बारे में मुझे तब तक पता नहीं था।

दो साल पहले, मैं श्रीलंका गया, जहां भारतीय नागरिक 'आगमन पर वीजा' प्राप्त करने के हकदार हैं। अगर आपका मंत्रालय अब यह दावा करता है कि पासपोर्ट राष्ट्रीयता का प्रमाण नहीं है, तो एक भारतीय यात्री से ऐसी स्थिति में अपनी राष्ट्रीयता साबित करने की उम्मीद कैसे की जाती है? विदेश सचिव के रूप में आपकी पूर्ववर्ती, निरुपमा राव ने इस भ्रम को दूर करने की कोशिश करते हुए लेख लिखा था। राव ने तर्क दिया कि दुनिया में कहीं भी कोई भी आव्रजन अधिकारी किसी भारतीय की राष्ट्रीयता की प्रामाणिकता पर सवाल नहीं उठाएगा जैसा कि उसके पासपोर्ट में दर्ज है। वह एक प्रतिष्ठित राजदूत रही होंगी, लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि वह यह अनुमान लगा सकती हैं कि हर आव्रजन अधिकारी का दिमाग कैसे काम करेगा।

मुझे एक बार लॉस एंजिल्स में एक आव्रजन अधिकारी ने रोक दिया था। मेरे पास स्टार टीवी का निमंत्रण था। उन्होंने मुझसे पूछा कि क्या मैं अमेरिका से रिपोर्टिंग करूंगा। मैंने कहा, हां। उन्होंने कहा कि उस स्थिति में, मेरे पास वर्क वीजा होना चाहिए था। आखिरकार 45 मिनट बाद मुझे जाने की अनुमति मिली, और वह भी तब जब मैंने एक वरिष्ठ अधिकारी को बताया कि मुझे 'बेवॉच', 'द एक्स-फाइल्स' और 'द सिम्पसंस' जैसे शो के सितारों का इंटरव्यू करने के लिए आमंत्रित किया गया है, और एक पखवाड़े में लौट जाऊंगा।

उन 45 मिनटों के दौरान, मैंने लॉस एंजिल्स से वापसी की उड़ान पकड़ने की कल्पना तक कर ली थी। ठीक उसी बांग्लादेशी अधिकारी की तरह, जिसे आपकी सरकार ने दिल्ली हवाईअड्डे पर दो घंटे तक रोके रखा था। फर्ज कीजिए, उत्तर मैसेडोनिया या साओ टोम और प्रिंसिपे के किसी आव्रजन अधिकारी को मेरा चेहरा पसंद नहीं आया और वह नहीं चाहता कि मैं उसके देश में प्रवेश करूं, तो वह पूछ सकता हैः 'आपकी राष्ट्रीयता क्या है?'

जब मैं कहूंगा कि मैं भारतीय हूं और अपना पासपोर्ट दिखाऊंगा, और अगर संयोग से उसने चैटजीपीटी से पूछकर जान लिया कि आपके मंत्रालय ने पासपोर्ट दिवस पर क्या कहा था, तब क्या होगा? ऐसी स्थिति में मैं इमली की टॉफी (जिससे मेरा पोता नहेमायाह बहुत प्यार करता है) लिए बिना वापस लौटने के अलावा और क्या कर सकता हूं?

मुझे बताइए, अगर किसी देश में आपसे पहचान के बारे में पूछा जाए, तो क्या सबूत दिखाएंगे? आप एक मंत्री हैं और राजनयिक पासपोर्ट रखते हैं। क्या राष्ट्रीयता साबित करने के मामले में आपका पासपोर्ट मेरे साधारण पासपोर्ट से अधिक वजनी है? कई देशों में, नागरिकों को एक विशिष्ट संख्या वाला पहचान पत्र दिया जाता है। अपनी नागरिकता साबित करने के लिए उन्हें केवल उस नंबर का हवाला देना होता है।

आपको वह धूमधाम याद होगी जिसके साथ मनमोहन सिंह सरकार ने 'आधार' शुरू किया था। इसे ऐसा दस्तावेज बनना था जो देश में पहचान के सभी उद्देश्यों को पूरा करे।

आज, जब लगभग सबके पास आधार नंबर है, सरकार कहती है कि यह पते के प्रमाण से बढ़कर कुछ नहीं। आप इसका उपयोग हवाईअड्डे में प्रवेश या ट्रेन टिकट बुक करने के लिए कर सकते हैं, लेकिन यह राष्ट्रीयता का प्रमाण नहीं। इसी तरह पैन कार्ड केवल यह साबित करता है कि आप आयकर दाता हैं; यह आपकी राष्ट्रीयता स्थापित नहीं करता। मैंने सोचा था कि वोटर आईडी उस उद्देश्य को पूरा करता है, जब तक कि भारत निर्वाचन आयोग अपने नियम लेकर नहीं आया। पश्चिम बंगाल, बिहार और असम में, जिन लोगों के पास ये आईडी थीं और उन्होंने 2024 के लोकसभा चुनावों में मतदान किया था, उन्हें तब भी मताधिकार से वंचित कर दिया गया अगर उनका ताल्लुक कुछ खास समुदायों से था। निर्वाचन आयोग ने तो नोबेल पुरस्कार विजेता प्रोफेसर अमर्त्य सेन से हाल के विधानसभा चुनावों में मतदान करने की अपनी पात्रता साबित करने तक की धृष्टता कर डाली थी।

मैं नहीं जानता कि मैं अपनी राष्ट्रीयता कैसे साबित करूंगा। मेरे पास जो एक सबूत है, वह एक पुरानी बाइबिल है जिसमें मेरी मां ने अपने सभी पांच बच्चों के जन्म की तारीख और समय दर्ज किया था। सौभाग्य से, मेरे पिता सेना में थे, और मेरे पास एक ब्रिटिश अधिकारी द्वारा हस्ताक्षरित उनका डिस्चार्ज सर्टिफिकेट है। लेकिन आपको न तो बाइबिल स्वीकार्य है, न ब्रिटिश हस्ताक्षर।

यह अकेले मेरी समस्या नहीं। दक्षिणपंथी झुकाव वाले वरिष्ठ पत्रकार प्रभु चावला लिखते हैंः 'तो, क्या मैं भारतीय नागरिक हूं? मेरे पास बायोमेट्रिक्स वाला आधार है, वोटर आईडी है, और मेरे द्वारा चुकाए गए हर टैक्स से जुड़ा पैन कार्ड है। फिर भी, क्योंकि मेरा जन्म आज की सीमाओं से परे, उस जगह हुआ था जिसे अब पाकिस्तान कहते हैं, और क्योंकि मेरे माता-पिता के कागजात समय के साथ नष्ट हो गए हैं, अदालतें घोषित करती हैं कि मैं कोई नहीं हूं-नामहीन, देशहीन, जब तक कि मैं अतीत की परछाइयों से सबूत न जुटाऊं।'

आप एक राजनयिक और मंत्री हैं। आपसे समस्याओं को पैदा करने की नहीं, बल्कि समाधान खोजने की उम्मीद की जाती है। क्या आप स्पष्ट नहीं कर सकते कि पासपोर्ट को राष्ट्रीयता का प्रमाण माना जाएगा, जब तक कि वह नकली या धोखाधड़ी से प्राप्त न किया गया हो?

अगर कोई दस्तावेज धोखाधड़ी से प्राप्त किया गया है, तो वह वैध नहीं। फिर पासपोर्ट का अवमूल्यन क्यों किया जाए? यह सुनिश्चित करना आपकी जिम्मेदारी है कि भारतीय पासपोर्ट केवल वास्तविक भारतीय नागरिकों को ही जारी किए जाएं; आप इस जिम्मेदारी से पल्ला नहीं झाड़ सकते। मेरे पास यह मानने का कारण है कि पासपोर्ट और राष्ट्रीयता के बारे में आपका बयान जानबूझकर दिया गया है। मोदी सरकार द्वारा पासपोर्ट में किए गए एक बदलाव पर बहुत लोगों का ध्यान नहीं गया होगा।

पहले, पासपोर्ट में धारक का स्थायी पता और वर्तमान पता दोनों दिखाई देते थे, साथ ही पिता/अभिभावक का पूरा पता और पिछले पासपोर्ट का विवरण भी होता था। अब इन विवरणों को हटा दिया गया है। आधिकारिक तर्क यह है कि ऐसी जानकारी पहले से ही आव्रजन अधिकारियों के पास है और पासपोर्ट की वैधता के दौरान पते बदल सकते हैं। लेकिन यह लीपापोती है। वास्तविक मंशा पासपोर्ट से उसकी पहचान के प्रमाण का दर्जा छीनना था।

मुझे आपके मंत्रालय द्वारा एक अन्य योजना थोपने की कोशिश याद हैः विदेश यात्रा के लिए 'उत्प्रवासन अनापत्ति प्रमाणपत्र' की जरूरत वाले लोगों को नारंगी रंग का पासपोर्ट जारी करना। आज जब मैंने अपने पहले पासपोर्ट की जांच की। जब 1984 में पटना में इसका नवीनीकरण किया गया था, तो अधीक्षक ने 'उत्प्रवासन जांच आवश्यक' का स्टैंप लगा दिया था-भले मैं स्नातकोत्तर था और ऐसी जांचों से मुक्त था। चूंकि मैं उस पासपोर्ट का उपयोग नहीं कर सका, इसलिए मुझे कोई उत्प्रवासन अनापत्ति नहीं लेनी पड़ी।

गरीबों के लिए नारंगी पासपोर्ट को सही ठहराने के लिए, आपने यह हास्यास्पद तर्क दिया कि इससे उनकी आकांक्षाएं बढ़ेंगी-कि नारंगी पासपोर्ट वाले लोग पढ़ाई करके और डिग्रियां हासिल करके नीला पासपोर्ट पाने का प्रयास करेंगे। हम अपने नागरिकों को दो अलग-अलग रंगों में पासपोर्ट जारी करने वाले दुनिया के इकलौते देश होते- मरून रंग के राजनयिक पासपोर्टों को छोड़कर।

मैं एक विनम्र अनुरोध के साथ बात समाप्त करता हूं। कृपया एक स्पष्टीकरण जारी करें कि एक पासपोर्ट को सामान्य तौर पर भारतीय नागरिकता के प्रमाण के रूप में स्वीकार किया जाएगा। अपवाद तो अपवाद होते हैं और उनसे अलग से निपटा जा सकता है। मुझे आशा है कि आप जरूरी कदम उठाएंगे। ■

आपका,
ए.जे. फिलिप

'इंडियन करेंट्स' में प्रकाशित खुले पत्र का संक्षिप्त रूप

मेरे पास बायोमेट्रिक्स वाला आधार है, वोटर आईडी है, और पैन कार्ड है। फिर भी, अदालतें घोषित करती हैं कि मैं कोई नहीं हूं- नामहीन, देशहीन, जब तक कि मैं अतीत की परछाइयों से सबूत न जुटाऊं

निशाने पर धार्मिक आज़ादी

पेज एक का शेष

अनगिनत मिशन स्कूलों ने पहली पीढ़ी के शिक्षार्थियों को शिक्षित किया जो अन्यथा कभी कक्षा में प्रवेश नहीं कर पाते।

इस लेखक ने एक ईसाई स्वैच्छिक संगठन के साथ या तो इसके प्रमुख या मुख्य पदाधिकारी के रूप में तकरीबन 25 साल गुजारे हैं। इस संगठन द्वारा समर्थित स्कूलों और शिक्षण केन्द्रों के जरिये लाखों वंचित छात्रों ने अपनी शिक्षा पूरी की। ऐसे तमाम लोग अपने परिवारों में साक्षर होने वाले पहले व्यक्ति थे। किसी ने भी अपनी शिक्षा के कारण ईसाई धर्म नहीं अपनाया। वह अनुभव इस लोकप्रिय रूढ़िवादिता के बिल्कुल उलट है।

मदर टेरेसा द्वारा स्थापित मिशनरीज ऑफ चैरिटी का मामला भी उतना ही शिक्षाप्रद है। 2018 में, झारखंड में सिस्टर कौंसिलिया और उनके दो सहयोगियों को बाल तस्करी के आरोपों के बीच गिरफ्तार किया गया था। इन गिरफ्तारियों ने सनसनीखेज सुर्खियां और प्राइम टाइम टेलीविजन बहसें पैदा कीं। इस संस्था के बाल देखभाल कार्य को अपूरणीय क्षति हुई। पिछले महीने, वर्षों की कानूनी कार्यवाही के बाद, बुजुर्ग नन को बरी कर दिया गया। बरी होने की खबर राष्ट्रीय मीडिया में बमुश्किल ही दिखाई दी। जनता की नाराजगी पैदा करना उनकी बेगुनाही की सार्वजनिक मान्यता की तुलना में कहीं आसान था।

कई राज्यों में, ईसाई प्रार्थना सभाओं और शैक्षणिक संस्थानों पर हमले आम हो गए हैं। स्वयंभू छोटे-छोटे सतर्कता समूह पूजा में बाधा डालते हैं, सभाओं को डराते हैं और कानूनी परिणामों के किसी स्पष्ट डर के बिना धर्म परिवर्तन के आरोप लगाते हैं। अक्सर पीड़ित शिकायत करते हैं कि पुलिस का ध्यान व्यवधान के लिए जिम्मेदार लोगों की तुलना में उन पर अधिक केन्द्रित होता है।

राजस्थान के डूंगरपुर जिले के पटेला में सेंट पॉल स्कूल की मान्यता हाल ही में रद्द होने से, जिसने छात्रों को कहीं और प्रवेश लेने के लिए मजबूर किया, असुरक्षा की इस भावना को और बढ़ावा मिलता है। विडंबना यह है कि यह सब ऐसे समय हो रहा है जब कई राज्यों ने हजारों सरकारी स्कूल बंद कर दिए हैं, जिससे गरीब बच्चों के पास शिक्षा के अवसर कम रह गए हैं।

ईसाइयों के लिए, पूजा व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों है। घरों में प्रार्थना हमेशा आस्था की एक स्वीकृत अभिव्यक्ति रही है। फिर भी भारत के कुछ हिस्सों में, एक छोटी-सी प्रार्थना सभा में भी गैरकानूनी धर्म परिवर्तन के आरोप लगने का खतरा रहता है।

अंततः, कानून और प्रशासनिक नियंत्रण के इस बढ़ते दायरे को अमेरिकी सदी या किसी पुराने दौर के अंत के रूप में नहीं, बल्कि एक ऐसे 'व्यवस्था-शून्य' अध्याय के रूप में देखा जाएगा जहां अधिकार और नियम केवल चुनिंदा नियंत्रण का जरिया बन गए हैं।

कोई भी लोकतंत्र फल-फूल नहीं सकता अगर उपासना के सामान्य कार्य भी संदेह के दायरे में आ जाएं। राज्य के पास विदेशी फंडिंग को विनियमित करने का अधिकार है। पारदर्शिता आवश्यक है, और प्रत्येक संस्थान को कानून का पालन करना चाहिए। लेकिन कानून निष्पक्ष और आनुपातिक होने चाहिए, जो नागरिकों को मनमानी प्रशासनिक कार्रवाई से सुरक्षित रखें।

भारत का संविधान धर्म, संघ और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का वादा करता है। वे स्वतंत्रताएं केवल इसलिए जीवित नहीं रहतीं क्योंकि वे पन्नों पर दर्ज हैं; ये अधिकार तभी जीवित माने जाएंगे, जब नागरिकों या संस्थाओं को अपनी धार्मिक मान्यताओं के प्रचार-प्रसार व शिक्षा, चिकित्सा और सेवा जैसे कार्यों के लिए हर पल प्रशासन या किसी अन्य का खौफ न सताए।

जब दान को संदेह से, सेवा को अविश्वास से और प्रार्थना को आशंका से देखा जाने लगे, तो लोकतंत्र खुद अपनी कोई अनमोल चीज खोने लगता है। सबसे दुखद विडंबना यह है कि आज के भारत में, कुछ जगहों पर प्रार्थना भी देशद्रोह के कृत्य जैसी प्रतीत होने लगी है। ■

एफसीआरए बिल 2026 का विरोध करते ऑल इंडिया कैथोलिक यूनियन के पदाधिकारी

ए.जे. फिलिप वरिष्ठ पत्रकार और स्तंभकार हैं

अन्य तरीकों से एनजीओ को दबाना

संसद में एफसीआरए बिल के पारित न होने के बावजूद सरकार नए-नए नियम बनाकर दबा रही आवाज़

आकार पटेल

जो चीज संसद में कानून के तौर पर पास नहीं हो सकती, उसे नियमों में बदलाव करके लागू किया जा सकता है। दुनिया पर इसका असर एक जैसा ही होता है और मकसद भी पूरा हो जाता है। वैसे तो लोकतांत्रिक देशों को ऐसा नहीं करना चाहिए, लेकिन एक बहुत ठोस वजह है कि 1947 के इतने सालों बाद भी भारत को 'आंशिक रूप से स्वतंत्र' माना जाता है, न कि पूरी तरह से लोकतांत्रिक देश।

इस साल मार्च में, सरकार ने गैर-सरकारी संगठनों (एनजीओ) पर एक बार फिर हमला करने के लिए एक बिल पेश किया। एनजीओ एक ऐसा सेक्टर है जिसके बारे में शुरू में ही यह साफ कर देना चाहिए कि आरएसएस इस क्षेत्र से जुड़ा नहीं है, क्योंकि यह कोई रजिस्टर्ड संस्था नहीं है और इसलिए इसका कोई अस्तित्व नहीं है।

विपक्ष ने अपना काम किया—यानी विरोध किया—और इसके चलते बिल पास नहीं हो सका। प्रधानमंत्री को अपने 240 सांसदों के साथ बिल को वापस लेना पड़ा। इसके बाद, उन्होंने उसी बिल के मुख्य हिस्से को मौजूदा कानून में 'नियमों' में बदलाव के तौर पर फिर से पेश किया। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके लिए संसद की मंजूरी की जरूरत नहीं होती।

ठीक उसी तरह जैसे विशेष गहन संशोधन (एसआईआर) की शुरुआत हुई, जिसने उन 'नियमों' के माध्यम से मताधिकार छीनने का काम किया जो राष्ट्रीय नागरिक रजिस्टर कानून के माध्यम से नहीं किया जा सका।

एनजीओ पर हो रहे मौजूदा हमले दरअसल इस सेक्टर को बंद करने की कोशिश का ही हिस्सा हैं। इसका मकसद उन एनजीओ को निशाना बनाना है जिन्हें विदेशी फंडिंग मिलती है, और इसके लिए राष्ट्रीय सुरक्षा और विदेशी साजिश जैसे पुराने आरोपों का सहारा लिया जा रहा है। सबसे पहले यह साफ कर देना चाहिए कि पीएम केयर्स का जिक्र यहां नहीं किया जा रहा है, क्योंकि न तो यह कोई सरकारी संस्था है और इसलिए आरटीआई के दायरे से बाहर है, और न ही यह कोई एनजीओ है, इसलिए इस पर एनजीओ वाले नियम लागू नहीं होते। यह एक अजीब और अनोखी चीज है।

खैर, नए नियमों में कुछ ऐसी बातें हैं जो एनजीओ के काम में रुकावट डाल सकती हैं। उनमें से कुछ इस प्रकार हैंः एनजीओ सिर्फ वही गतिविधियां कर सकते हैं जो सरकार की दी गई सूची में शामिल हैं। सरकार यह भी तय करेगी कि एनजीओ कहां काम कर सकता है। एनजीओ के 'मुख्य पदाधिकारी' का मतलब सिर्फ उसका मुख्य पदाधिकारी ही नहीं, बल्कि उसके सभी ट्रस्टी और पदाधिकारी भी हैं, और विदेशी लोग इसके लिए पात्र नहीं हैं।

उन्हें अपने सोशल मीडिया अकाउंट्स की जानकारी देनी होगी और ऐसी कोई चीज़ पब्लिश नहीं करनी होगी जिसे सरकार राजनीतिक मानती हो। और भी बहुत कुछ। ये नियम बाकी निजी क्षेत्र (जिसका मतलब ही 'गैर-सरकारी' है) पर क्यों लागू नहीं होते? यह कहना मुश्किल है।

कॉरपोरेट कंपनियां जितना चाहें उतना विदेशी निवेश ला सकती हैं और इसके लिए उनकी तारीफ भी होती है। वे विदेशी सीईओ रख सकती हैं, और अमेरिका में हमारे भारतीय सीईओ हीरो माने जाते हैं।

इसके अलावा भी कई साफ-साफ पाखंड देखने को मिलते हैं। जनवरी 2013 में दिल्ली हाईकोर्ट में एक जनहित याचिका दायर की गई थी, जिसमें दावा किया गया था कि भाजपा और कांग्रेस को एक ही विदेशी कंपनी, वेदांता/स्टेरलाइट से चंदा मिला था, जो एफसीआरए कानून का उल्लंघन था। 28 मार्च 2014 को कोर्ट ने माना कि भाजपा और कांग्रेस एफसीआरए के उल्लंघन की दोषी हैं और मई में मोदी सरकार और चुनाव आयोग से इन दोनों पार्टियों के खिलाफ कार्रवाई करने को कहा।

अक्तूबर 2015 आते-आते, मोदी सरकार ने इसका एक रास्ता निकाल लिया था। कानून में बदलाव करके यह तय किया गया कि भारत में रजिस्टर्ड कोई भी कंपनी—चाहे उसका मालिक कोई भी हो—भारतीय कंपनी मानी जाएगी। असल में, 'विदेशी' को 'भारतीय' के तौर पर फिर से परिभाषित किया गया, जो भारतीय लोगों के साथ एक धोखा था; लेकिन चूंकि दोनों मुख्य पार्टियां इस धोखे में शामिल थीं, इसलिए यह बिना किसी विरोध के पास हो गया।

बाकी लोगों के लिए नियम अलग हैं। 2020 में सरकार ने और भी नियम लागू किए। पहला नियम यह था कि जिन लगभग 23,000 एनजीओ के पास विदेशी पैसा लेने का लाइसेंस था, वे सिर्फ स्टेट बैंक ऑफ इंडिया की एक ही ब्रांच—नई दिल्ली में संसद मार्ग वाली ब्रांच—में ही फंड ले सकती थीं। दिल्ली में सिर्फ 1,488 एनजीओ रजिस्टर्ड थे, इसलिए बाकी एनजीओ को अकाउंट खुलवाने के लिए दिल्ली आना पड़ता। यह ब्रांच पैसे के लेन-देन, उसके सोर्स और उसे पाने के तरीके की जानकारी गृह मंत्रालय को देती।

दूसरा बदलाव यह था कि एनजीओ को मिले पैसे का सिर्फ 20 प्रतिशत हिस्सा ही 'प्रशासनिक खर्चों' पर खर्च किया जा सकता था। सैलरी, यात्रा का खर्च, लोगों को काम पर रखने का खर्च, बिजली-पानी का बिल, टेलीफोन का खर्च, डाक और कूरियर का खर्च, ऑफिस की मरम्मत, स्टेशनरी और प्रिंटिंग का खर्च, ट्रांसपोर्ट, फंड का हिसाब-किताब और मैनेजमेंट का खर्च, गाड़ियों को चलाने और उनके रखरखाव का खर्च, रिपोर्ट लिखने और फाइल करने का खर्च, कानूनी और प्रोफ़ेशनल फीस और किराया-इन सभी को प्रशासनिक खर्चों की श्रेणी में रखा गया था।

इन सारी चीजों पर उनकी विदेशी फंडिंग का 20 प्रतिशत से ज्यादा हिस्सा खर्च नहीं किया जा सकता था (ध्यान रखें कि भारत में किसी दूसरे सेक्टर पर ऐसी पाबंदियां लागू नहीं हैं)। इसका असर उन संगठनों पर पड़ता जिनका काम रिसर्च, वकालत और ऐसी दूसरी गतिविधियों से जुड़ा था, जिनके लिए वकील और एकेडमिक्स जैसे प्रोफेशनल्स को हायर करने की जरूरत होती थी, और जिनका सीधा संबंध अस्पताल या स्कूल बनाने जैसी ठोस निर्माण गतिविधियों से नहीं था।

तीसरी बात, अब कानून किसी एनजीओ को मिले फंड को दूसरे एनजीओ को बांटने से रोकता है, भले ही वे एनजीओ, एफसीआरए के नियमों का पालन करते हों। इससे इस सेक्टर पर बुरा असर पड़ेगा क्योंकि एनजीओ प्राइवेट सेक्टर की तरह एक-दूसरे से मुकाबला नहीं करते; वे नेटवर्क के तौर पर काम करते हैं। इस बदलाव से उनके आपसी गठजोड़ और एक-दूसरे के साथ मिलकर काम करने की क्षमता को नुकसान पहुंचेगा। बड़े एनजीओ अब छोटे एनजीओ के साथ काम नहीं कर पाएंगे, खासकर उन जमीनी स्तर पर काम करने वाले संगठनों के साथ, जिनके पास खुद फंड जुटाने का कोई जरिया या अनुभव नहीं है।

और अब 2026 में और भी नियम। और ये सब 'मिनिमम गवर्मेंट, मैक्सिमम गवर्नेंस' जैसे अद्भुत नारे के बीच हो रहा है। ■

अनायास नहीं है विरोध। एफसीआरए संशोधन बिल 2026 सामाजिक ढांचे की नींव को चुनौती है

एनजीओ पर हमले इस सेक्टर को बंद करने की कोशिश का ही हिस्सा हैं। इसका मकसद उन्हें निशाना बनाना है जिन्हें विदेशी फंडिंग मिलती है, और इसके लिए राष्ट्रीय सुरक्षा जैसे पुराने आरोपों का सहारा लिया जा रहा है

इस समाचारपत्र का प्रकाशन **पवन कुमार बंसल** द्वारा हेराल्ड हाउस, 5-ए, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली-11002 से **दि एसोसिएटेड जर्नल्स लिमिटेड**, हेराल्ड हाउस, 5-ए, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली-110002 की ओर से संपादन **राजेश झा** द्वारा और मुद्रण आर. सी. मल्होत्रा द्वारा दि इंडियन एक्सप्रेस (प्रा.) लिमिटेड प्रेस, ए-8, सेक्टर-7, नोएडा- 201301, उत्तर प्रदेश से किया जा रहा है।

मानसून ने फिर धोखा दिया तो क्या करेंगे?

मानसून का ढर्रा बदल रहा, लेकिन खेती आज भी पुरानी सोच में फंसी

जयदीप हार्दीकर

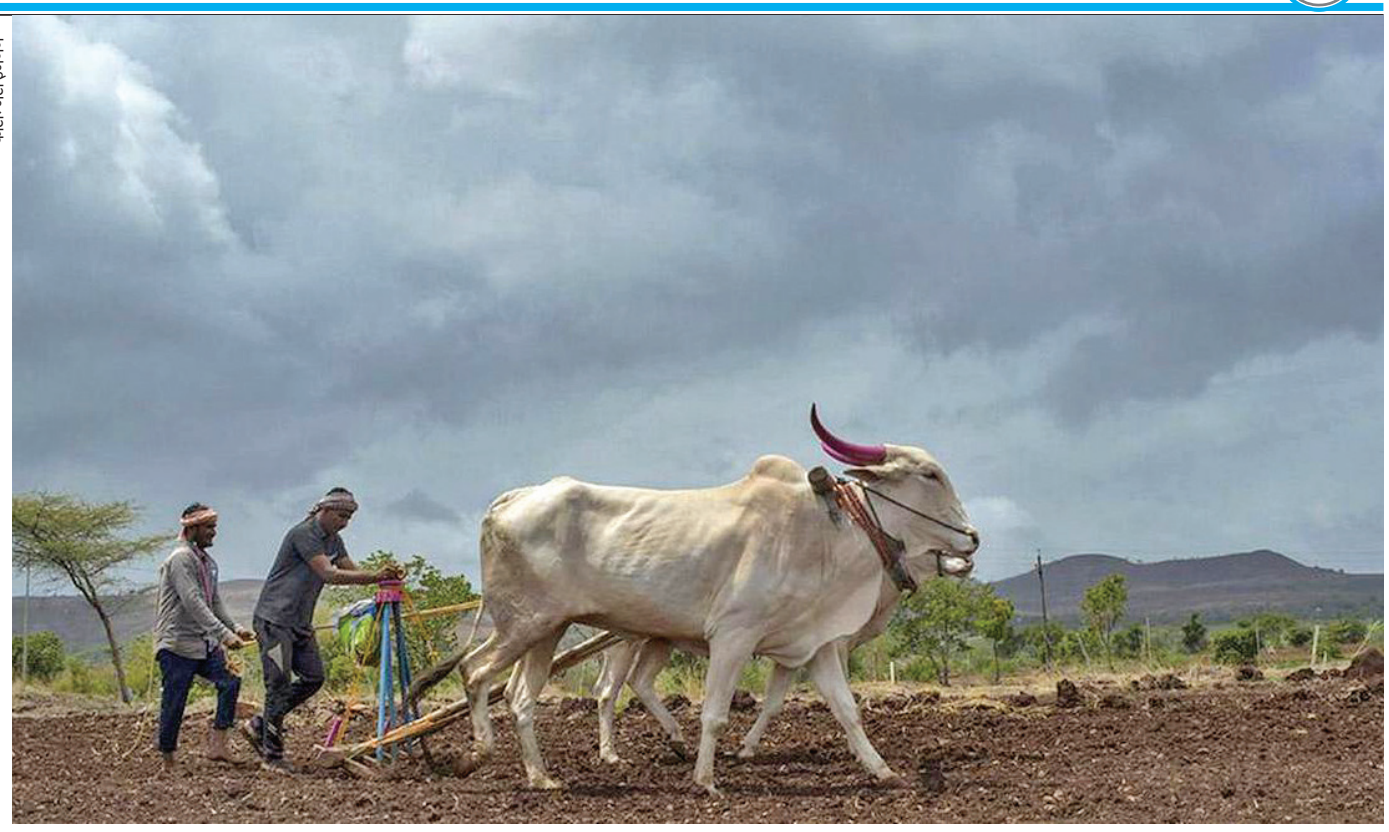
फोटो: गेटी इमेजेज

किसानों के पास शायद मानसून के इंतजार के अलावा कोई विकल्प भी नहीं है

विदर्भ के कपास समृद्ध जिले यवतमाल में पांच एकड़ जमीन के खेतिहर और सामाजिक कार्यकर्ता नितिन खडसे के लिए इस मॉनसून का पहला महीना ही पहेली बन गया है।

अपने गांव जलका से फोन पर 'संडे नवजीवन' से बात करते 45 वर्षीय खडसे कहते हैं, "पिछले कुछ सालों में हमने देखा कि 10-12 गांवों के दायरे में बारिश एक जैसी नहीं होती, लेकिन इस साल यह पैटर्न एक ही खेत में दिखा- मेरे ही खेत के एक हिस्से में बारिश हुई, दूसरे हिस्से में नहीं।" उन्होंने कहा, "कई किसानों ने कम बारिश के बावजूद बुआई पूरी कर ली, लेकिन हमें शायद दोबारा बुआई करनी पड़े, क्योंकि पहली बुआई शायद बेकार चली जाएगी।"

जून का महीना ग्रामीण भारत के लिए किसी जुए की शुरुआत जैसा होता है। किसान खेतों की जुताई करते हैं, ज्यादातर बीज और खाद उधार खरीदते हैं, और इंतजार करते हैं भरोसेमंद बारिश के पहले दौर का। सूखे इलाकों में खेती हमेशा से मानसून पर एक दांव जैसी रही है, क्योंकि वहां सिंचाई का यही एकमात्र साधन है। लेकिन इस साल जून खत्म होते-होते दांव की अनिश्चितता बढ़ती गई है। किसानों की भाषा में कहें, तो इसमें देरी हुई है या यह कहीं अटक गया है।

देश के बड़े हिस्सों में ठीक-ठाक बारिश छोड़िए, कई इलाकों में तो शुरुआत भी नहीं हुई है। जून के आखिर तक, दक्षिण-पश्चिम मॉनसून के आने के बाद से भारत में सामान्य से लगभग 42 प्रतिशत कम बारिश हुई, जिससे यह सदी के सबसे सूखे जून महीनों में से एक बन गया। यह पूरे देश का औसत है। मौसम विभाग के आंकड़ों के अनुसार बारिश की कमी मध्य भारत में खासतौर से ज्यादा रही, जहां कई इलाकों में यह सामान्य से लगभग 60 प्रतिशत कम रही। महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश और पड़ोसी राज्यों के किसानों के लिए, यह समय पर बुवाई और फिर एक हफ्ते तक बेचैन इंतजार के बीच का फर्क है।

भारतीय अर्थव्यवस्था पर मानसून का बहुत ज्यादा असर होता है।

सुखद यह है कि मौसम विभाग ने जुलाई के प्रथम सप्ताह में देश के ज्यादातर हिस्सों में अच्छी और ठीक-ठाक बारिश का अनुमान लगाया है। लेकिन बढ़ती महंगाई, घटती आमदनी और अन्य दबावों के बीच, बिगड़ी बारिश से छोटे किसानों की मुश्किल और बढ़ेगी, जो खाड़ी युद्ध से उपजे ईंधन संकट और खाद की बढ़ती कीमतों से पहले ही परेशान हैं।

किसी भी नजरिये से देखें तो 2026-27 में सूखे जैसे हालात की आशंका बहुत प्रबल है।

दक्षिण-पश्चिम मानसून तय समय से कुछ दिन देरी से केरला पहुंचा, लेकिन फिर जो हुआ, वह विलंब से कहीं ज्यादा अहम था। मानसून पश्चिमी और मध्य भारत में दो हफ्ते से ज्यादा समय तक रुका रहा, और खेती कैलेंडर के हिसाब से गर्मी बीत जाने के बाद भी लू और उमस बनी रही। देश भर में तेजी से आगे बढ़ने के बजाय इसकी रफ्तातर धीमी पड़ गई, जिससे खेतों के बड़े हिस्से सूखे रह गए, जबकि आम तौर पर किसान बारिश के पहले दौर के बाद बुआई पूरी कर रहे होते हैं।

*

मौसम वैज्ञानिक कई वायुमंडलीय कारकों के एक साथ मिलने की ओर इशारा करते हैं। भूमध्यरेखीय प्रशांत क्षेत्र में अब 'अल नीनो' के हालात हैं और उम्मीद है कि इस मौसम के दौरान ये और मजबूत होंगी। 25 जून को जारी मौसम विभाग की साप्ताहिक पूर्वानुमान प्रेस विज्ञप्ति के अनुसार, "समुद्र की सतह के बढ़ते तापमान का असर वायुमंडल पर पड़ा है, और अब समुद्र-वायुमंडल का मिला-जुला सिस्टम 'अल नीनो' जैसे हालात के लक्षण दिखा रहा है।"

पिछले कुछ सालों में, भारत अक्सर अल-नीनो के सबसे बुरे असर से बच जाता था क्योंकि 'पॉजिटिव इंडियन ओशन डाइपोल' ('इंडियन नीनो')- जो ट्रॉपिकल हिन्द महासागर के पश्चिमी और पूर्वी हिस्सों में समुद्र की सतह के तापमान के अंतर से बनने वाला एक अनियमित मौसम पैटर्न है, अतिरिक्त नमी पहुंचाता था। इस साल, वैसे संतुलन के हालात नदारद हैं।

साथ ही, अरब सागर से नमी लाने वाली हवा की निचली धारा 'सोमाली जेट' भी, सामान्य से कमजोर रही है। कुछ वायुमंडलीय प्रक्रियाओं के साथ मिलकर, इन कारकों ने बार-बार 'ब्रेक' लगाया, जिससे मॉनसून की रफ्तार बाधित हुई है।

*

किसानों के जमीनी अनुभव उन प्रक्रियाओं के बारे में वैज्ञानिकों की समझ से बहुत अलग होते हैं। वे सूखे खेत देखते हैं जहां अब तक सोयाबीन, कपास, मक्का या अनाज की फसल उग जानी चाहिए थी। खेती के सामान पर अपनी बचत या फसल के लिए गए लोन का कुछ हिस्सा पहले ही खर्च हो जाने की स्थिति में वे परेशान होते हैं कि एक हफ्ते और बारिश नहीं हुई तो क्या उन्हें एक और लोन लेना होगा।

असर अभी से दिखने लगा है: 25 जून तक, देश में खरीफ की बुआई पिछले साल के इसी समय की तुलना में 23 प्रतिशत कम थी। सोयाबीन, कपास और यहां तक कि मक्के की बुआई भी तेजी नहीं पकड़ पाई। रॉयटर्स की एक रिपोर्ट के अनुसार, सोयाबीन की बुआई में लगभग 65 प्रतिशत और कपास की बुआई में 35 प्रतिशत की कमी आई है। कई इलाकों में धान की रोपाई रुक गई है; जो पैदावार कम होने का कारण बनेगी। देरी के हर हफ्ते से फसल उगाने का समय कम हो जाता है, संभावित पैदावार घट जाती है, कीट और बीमारियों का खतरा बढ़ जाता है, और यह सब किसान को और ज्यादा कर्ज तथा निराशा में धकेल देता है।

खबरों के मुताबिक, मोदी सरकार ने उन 315 संवेदनशील जिलों के लिए आपात योजनाएं बनाई हैं, जहां कमजोर मानसून असर डाल सकता है। इनमें सूखे इलाकों वाले सौ से ज्यादा जिले शामिल हैं जिन्हें 'अत्यंत संवेदनशील' माना गया है, क्योंकि वहां सिंचाई सुविधाएं बहुत कम हैं। कृषि विभाग ने उम्मीद के मुताबिक बारिश न होने की स्थिति में किसानों को जहां संभव हो, कम समय में तैयार होने वाली फसलों, दालों और मोटे अनाजों की खेती अपनाने की सलाह दी है। दिक्कत है कि ऐसा बदलाव तभी संभव है, जब उन फसलों के लिए वैकल्पिक बीज और दूसरी जरूरी चीजें उपलब्ध हों।

*

विलंबित और कमजोर मानसून एक बड़े पैटर्न की ओर इशारा हैं। आपातस्थिति से निपटने की योजना, जो प्रायः नाकाफी होती है, धीरे-धीरे भारतीय खेती का एक स्थायी हिस्सा बनती जा रही है।

हमने पिछले 20 सालों में जलवायु परिवर्तन के दौर में भारतीय मानसून में बदलाव साफ देखा है। बारिश वाले दिन कम होते गए हैं, जबकि अत्यधिक बारिश की घटनाएं बढ़ी हैं। यही कारण है कि कई इलाके 'क्लाइमेट हॉटस्पॉट' बन रहे हैं और खेतिहरों की योजनाएं गड़बड़ा रही हैं।

कई जलवायु वैज्ञानिकों के अनुसार, अल नीनो और सूखे के बीच के पुराने रिश्ते का अनुमान अब आसान नहीं रहा। बढ़ते समुद्री तापमान और हवा के बदलते ढर्रे का मतलब है कि कुल मौसमी बारिश में उतार-चढ़ाव। संभव है किसी जिले में मानसून के चार महीनों में कुल मिलाकर 'सामान्य' बारिश हो, फिर भी वहां 'सूखे' के हालात बन जाएं, क्योंकि ज्यादातर बारिश कुछ ही बार जोरदार तरीके से हुई हो और उसके बीच लंबे समय तक सूखा रहा हो।

किसान यह उतार-चढ़ाव बेहतर समझते हैं क्योंकि यह उनकी रोजमर्रा की सच्चाई है। वे मानसून के अच्छे या बुरे होने का अंदाजा मौसमी औसत से नहीं, बारिश के बंटवारे से लगाते हैं। मसलन- क्या बुआई के लिए पहली बारिश समय पर हुई? मिट्टी में फसल के लिए पर्याप्त नमी थी? उसके तुरंत बाद लंबे समय तक सूखा रहा? अत्यधिक बारिश से पौधे बह गए? यह सवाल और उनके जवाब तय करते हैं कि फसल कैसी रही, न कि मौसमी औसत।

भारत की नीतिगत प्रतिक्रिया अपर्याप्त है क्योंकि उपलब्ध दीर्घकालिक रुझान एक नई रणनीति की जरूरत बताते हैं। उदाहरण के लिए हरित क्रांति के दौर (1960 के दशक के मध्य से 1970 के दशक के आखिर तक) में बने हमारे कृषि संस्थान आज भी ऐसे काम कर रहे हैं जैसे मौसम अब भी 20वीं सदी वाला हो।

फसल कैलेंडर यह मानकर चलता है कि जून में बुवाई पक्के तौर पर शुरू हो जाएगी। खरीद तंत्र अब भी ज्यादा पानी लेने वाले अनाज और नकदी फसलों को बढ़ावा देता है। ग्रामीण ऋण चक्र और सिंचाई योजनाएं इस भरोसे पर टिकी हैं कि मानसून का अंदाजा सही-सही लगाया जा सकता है, जबकि मानसून का मिजाज अनिश्चित होता गया है, और अजीब बात यह कि ऐसा तब हो रहा है जब मॉनसून के पूर्वानुमान और भविष्यवाणी की तकनीक बेहतर हो रही है।

संभव है मानसून फिर से पटरी पर आ जाए। संभव है जलाशय लबालब भर जाएं, बुवाई में तेजी आए और इस साल की चिंताएं दूर हो जाएं। लेकिन क्या हमें हालात के सुधरने की 'संभावना' पर ही निर्भर रहना चाहिए? क्या हमें इस अनिश्चितता के लिए तैयारी नहीं करनी चाहिए? ■

संभव है कि मानसून फिर से पटरी आ जाए। जलाशय लबालब भर जाएं, बुवाई में तेजी आए और इस साल की चिंताएं दूर हो जाएं। लेकिन क्या हमें हालात सुधरने की 'संभावना' पर ही निर्भर रहना चाहिए?

किला ढह गया, लेकिन मायूस दिलों में है नई उम्मीद

सत्ता की एक बिल्कुल नई धुन पर ता-ता-थैया कर रहे हैं बंगाल के लोग

चंद्रिल भट्टाचार्य

लोग उस पुरानी स्ट्रीट फाइटर का इंतज़ार करते रहे, लेकिन ममता बनर्जी हाल के वर्ल्ड कप मैच में रोनाल्डो की तरह थीं–यानी मौके पर मौजूद और नहीं भी

पश्चिम बंगाल में ऐसी प्रचंड जीत की उम्मीद तो खुद भाजपा को भी नहीं रही होगी। लेकिन नतीजों के बाद सुखद विस्मय में ओतप्रोत वे आनन-फानन मंत्रियों के नाम तय करने और आडंबर भरे बयानों का ताना-बाना बुनने में जुट गए। भाजपा के लिए यह छप्परफाड़ फायदा यहीं नहीं रुका; उसकी राह की तमाम रुकावटें अपने आप काफूर होने लगीं। भाजपा जैसे सूरज बड़जात्या की किसी ऐसी रूमानी फिल्म को जीने लगी जिसकी पटकथा उनके अपने राम और श्याम(-आ प्रसाद) मुखर्जी ने मिलकर लिखी थी।

जबकि लोग 'स्ट्रीट फाइटर' ममता बनर्जी के पलटवार का इंतजार कर रहे थे, ममता ने एक हालिया विश्व कप मैच में रोनाल्डो जैसा व्यवहार किया-खुद को सीन से गायब कर लिया। वाम मोर्चा खुशी से फूला नहीं समा रहा। उन्होंने अपने दम पर एक सीट जीती और दूसरी एक सहयोगी के जरिये। वे शायद अगले पांच साल तक इसका ढिंढोरा पीटना बंद नहीं करेंगे। यह बिल्कुल वैसा ही है जैसे गणित में किसी तरह 4 नंबर लाने के बाद विक्ट्री लैप में प्रवेश; बस 96 नंबर और आ जाते तो सौ में सौ लाकर बाजी मार लेते!

भाजपा का रथ पूरी ताकत से आगे बढ़ रहा है। हमने कभी सुना था कि एक स्वस्थ लोकतंत्र के लिए एक मजबूत विपक्ष जरूरी है। कोई भी सत्ताधारी दल कभी लोकतंत्र की परवाह नहीं करता, और भले ही एक-दलीय शासन की संभावना बेतुकी लगे, बंगाल में कई दशकों से यही माहौल रहा। वाम मोर्चे के 34 साल के शासन में कई वर्षों तक व्यावहारिक रूप से विपक्ष था ही नहीं। कांग्रेस और बाद में टीएमसी ने केवल एक दिखावटी विपक्ष के रूप में काम किया, जो वहां सिर्फ ताने सुनने के लिए बैठे थे। लंबे समय तक सोचना भी मुश्किल रहा कि कभी बंगाल ऐसा भी होगा जिस पर कम्युनिस्टों का शासन नहीं होगा। ऐसा ही चलता रहा, जब तक कि वाम नेता का आत्मसंतोष की पराकाष्ठा पर नहीं चढ़ बैठे और उनके कैडर क्रूर नहीं हो गए।

टीएमसी का भी 15 वर्षों तक विपक्ष-विहीन शासन रहा। तब कांग्रेस का कोई अस्तित्व नहीं था, माकपा विदूषक की स्थिति में थी और भाजपा का आना असंभव ही माना जाता था। बंगाल के लोग एक-दलीय शासन पसंद करते हैं। वे तब तक बदलाव नहीं करते, जब तक कि अत्याचार बर्दाश्त करने की सीमा को पार न कर जाए। इस बार टीएमसी असहनीय रूप से भ्रष्ट और अहंकार से भर गई थी कि लोग उन्हें हराने के लिए भारी संख्या में बाहर आए। इसका फायदा भाजपा को मिला, जो एक बिल्कुल अलग विचार वाली पार्टी है।

भाजपा विपक्ष को गायब कर देने के लिए बदनाम रही है- कुछ को लालच से तो कुछ को डराकर। लेकिन इससे भी यह गुत्थी नहीं सुलझती कि टीएमसी नेता इतनी जल्दबाजी में पार्टी क्यों छोड़ दी। ऐसा लग रहा था कि वे किसी टॉर्चर चैंबर (या ईडी के संभावित छापों) से जान बचकर भाग रहे हों। कुछ ने बागी गुट बना लिया है तो कुछ एक अज्ञात संगठन में शामिल हो गए हैं। इन दोनों खेमों को व्यापक रूप से भाजपा-प्रायोजित समूहों के रूप में देखा जाता है, जिनका उद्देश्य केवल गैर-भाजपा होने का दिखावा करना है, जिससे मीम कलाकारों का खूब फायदा और आम जनता का मनोरंजन हो रहा है।

*

तो, अगर बंगाल की राजनीति भाजपा-ए, बी, सी; दंतविहीन टीएमसी और महत्वाकांक्षविहीन और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर अंकुश की भी।

दोनों ही संभावनाएं आम लोगों को बेहद आकर्षित करती हैं। अगर पानी शुद्ध है, सड़कें साफ हैं, अस्पताल सेवाएं सस्ती हैं, नौकरियां उपलब्ध हैं, तो कोई भी उन शब्दवीरों की बातों पर क्यों ध्यान देगा, जिनके भिंचे होंठ और बहरे कर देने वाली आवाजें वैसे भी चिढ़ का स्रोत हैं? बंगाल लीक से हटकर चलने वालों का शौकीन है, लेकिन केवल सिद्धांत में। यहां के लोग उस साहित्य को पुरस्कार देते हैं जो अराजकता की वकालत करता है, लेकिन वे उस असहमति जताने वाले को बर्दाश्त नहीं करेंगे जो मौजूदा बहुसंख्यक राय की धारा के विपरीत तैरता है और स्थापित मान्यताओं पर प्रहार करता है। भाजपा शायद यह सुनिश्चित करेगी कि यह अतिसंवेदनशीलता और एलर्जी और तेज हो जाए, कि आलोचना करना जोखिम भरा हो जाए। वह उन बौद्धिकों को पालेगी जो वफादार रहेंगे और निसंदेह इसके पास चाटुकारों की भारी फौज होगी।

बतौर बानगी ऐसे उदाहरण सामने आए हैं जहां आरोपियों को अर्ध-नग्न अवस्था में घुमाया गया, और इस तमाशे को आम जनता और सीपीएम में विभाजित हो, तो क्या यह सर्कस देखने लायक होगा? अधिक संभावना है कि यह भाजपा के लिए एक स्वप्निल सफर होगा, जो यह तो घोषणा करती है कि मुस्लिम अजान के लिए रेड रोड ब्लॉक नहीं कर सकते, लेकिन योग के लिए उसी सड़क को सात दिनों के लिए ब्लॉक कर देती है। बहुसंख्यक उनके साथ हैं, उनका उत्साह बढ़ा रहे हैं। यह उत्साह पिछली सत्ताधारी पार्टी की बेड़ियों से मुक्ति की भावना को दर्शाता है, ठीक वैसी ही भावना जो 2011 में वाम मोर्चे को सत्ता से बेदखल करने पर महसूस की गई थी। ममता बनर्जी को तब मसीहा के रूप में देखा गया था जो बंगाल को उसके 'लाल धब्बों' से मुक्ति दिलाएंगी। लेकिन कुछ ही महीनों में, यह अहसास होने पर सारा उत्साह जाता रहा कि रील और रीयल भूमिका की अदलाबदली आसान नहीं।

हालांकि, इस बार कथानक अलग तरह से सामने आ सकता है। भाजपा राजनीतिक समझ और अविश्वसनीय रूप से मोटे पैसों वाली पार्टी है। इनामों की मूसलाधार बारिश होगी। नई सड़कों, पुलों, हवाई अड्डों और तमाम बुनियादी ढांचों की घोषणा की उम्मीद कीजिए भाजपा के बड़े नेताओं ने समान रूप से सराहा। फेरीवालों को बेदखल किया गया, उनके स्टालों पर बुलडोजर चलाए गए, जीने के अधिकार पर 'चलने के अधिकार' को प्राथमिकता दी गई। राज्य से अवैध प्रवासियों को खदेड़ने के विचार से ही ज्यादातर लोग खुशी से झूम उठे हैं।

राज्य में भाजपा नेता बड़े चाव से 'जीरो टॉलरेंस' की घोषणा कर रहे हैं, जिसमें 'किसी को बख्शा नहीं जाएगा अगर' और 'लोगों को सबक सिखाया जाएगा अगर' जैसे रटे-रटाए मुहावरों का इस्तेमाल किया जा रहा है। आम जनता टीएमसी नेताओं पर अंडे फेंककर बेहद खुश है। समाज से निकाल बाहर करना आज के मेनू की खासियत लग रही है और लोग 'दूसरों' के अपमान में मिठास ढूंढ रहे हैं। ऐसा लगता है कि पूरी दुनिया एक ही थाली पर लार टपका रही है-अमेरिका और यूरोप भी उन नेताओं के दीवाने हैं जो चिल्लाते हैं 'इन्हें बाहर निकालो!'

बंगाल में ध्रुवीकरण की जड़ें गहरी हो चुकी हैं। हिन्दुओं का एक वर्ग मानता है कि टीएमसी ने मुसलमानों का बहुत अधिक तुष्टीकरण किया। भाजपा के क्रूर बदलाव लाने की संभावना है। वह हाथ धोकर अल्पसंख्यकों और आलोचकों के पीछे पड़ेगी। जो पार्टी बुलडोजर राज का विज्ञापन करती है और मुठभेड़ में हत्याओं की डींग मारती है, वही आखिरकार यहां भी आ गई है, और लोग इस लोहे के हाथ को चूमकर सबसे ज्यादा खुश हैं।

*

विपक्ष के लिए भाजपा से लड़ना मुश्किल होगा। आखिरकार, आप लोकतांत्रिक पतन से कैसे लड़ सकते हैं जब इसके घटक-यानी जनता-ही तानाशाही के माहौल को पसंद कर रही हो? आप यह तर्क कैसे दे सकते हैं कि लोगों के अधिकारों को कुचला जा रहा है जब ज्यादातर मानते हैं कि कुछ लोगों के पास कोई अधिकार होना ही नहीं चाहिए?

जमीनी स्तर पर इसका मतलब यह है कि वामपंथी एक गैर-सांप्रदायिक, गरीब-समर्थक एजेंडे पर अड़े रह सकते हैं, लेकिन यह ज्यादातर लोगों को बहुत नरम और अमूर्त लगेगा। टीएमसी में अब वह धार नहीं रही और विचारधारा कभी उसकी ताकत थी नहीं। विकास की मांगें भी तब काम नहीं आएंगी जब हर जगह फ्लाईओवर बनाए जा रहे हों। इसलिए, विपक्ष मात खा चुका है और भाजपा की डबल-इंजन सरकार, जो नकदी और मध्ययुगीन क्रूरता से लबालब है, खुशी-खुशी आगे बढ़ सकती है।

यह तब तक चलता रहेगा जब तक कि अहंकार उस ईंधन को दूषित करना शुरू नहीं कर देता जो इस डबल-इंजन स्टीमरोलर को चलाता है, जब तक कि भाजपा चीजों को हल्के में लेना शुरू नहीं कर देती, वास्तविकता पर अपनी पकड़ नहीं खो देती और बंगाल में अपने दो पूर्ववर्तियों की तरह उसी ढेर में खो नहीं हो जाती। तभी विपक्ष अपनी चाल चल सकता है।

जो नेता चाबुक चलाते हैं, वे अक्सर उस पल की सुध खो देते हैं जब चाबुक ही हाथ को चलाने लगता है। एक नया नेता, एक नई पार्टी उभर सकती है, जो सभी भविष्यवाणियों को उलट सकती है। एक नई स्थिति पूरी कहानी को बदल सकती है और सबको गलत साबित कर सकती है। लेकिन जिस तरह से अभी धरती घूम रही है, इस मैच में भाजपा हारने जा रही है। ■

लोकतांत्रिक पतन से कैसे लड़ सकते हैं जब जनता ही तानाशाही को पसंद कर रही हो, जब बहुसंख्यक आबादी अल्पसंख्यकों के दमन का साथ देने लगे कि कुछ लोगों के पास कोई अधिकार होना ही नहीं चाहिए?

चंद्रिल भट्टाचार्य कोलकाता में रहने वाले गीतकार, कवि, निबंधकार और फिल्म निर्माता हैं

बेतरतीब बहुध्रुवीय दुनिया

कोई भी अकेली ताकत अपनी मर्जी नहीं थोप सकती, फिर भी ताकतवर देशों के बीच टकराव प्रबंधित करने का कोई सामूहिक तंत्र मौजूद नहीं

अशोक स्वैन

इतिहास में कुछ ऐसे क्षण आते हैं जब युद्ध भूगोल की सीमाओं से कहीं ज्यादा अहम बदलाव कर देते हैं। वे अंतरराष्ट्रीय राजनीति के पूरे ढांचे को बदल देते हैं। ईरान युद्ध ऐसा ही एक पड़ाव साबित हो सकता है। चाहे कोई स्थायी 'शांति समझौता' हो या न हो, इसका एक भू-राजनीतिक नतीजा अभी से दिखने लगा है। इस संघर्ष ने अमेरिकी प्रभुत्व वाले एकध्रुवीय युग के अंत को तेज कर दिया है।

यह युग पहले ही चीन के उभरने, रूस के पुनरुत्थान और अन्य क्षेत्रीय ताकतों के बढ़ते हौसले के साथ सिमटना शुरू हो चुका था। ईरान युद्ध ने पहले से चल रहे उस संक्रमण को तेज कर दिया है।

फिर भी, एक बहुध्रुवीय दुनिया के आगाज का जश्न मनाना खतरनाक रूप से जल्दबाजी होगी। दुनिया बहुध्रुवीय तो बन रही है, लेकिन अभी तक कोई वैकल्पिक विश्व व्यवस्था मौजूद नहीं है। शक्ति का संतुलन उस बदलाव को संभालने के लिए आवश्यक संस्थानों और नियमों के निर्माण की तुलना में बहुत तेजी से बदल रहा है। यह एक अत्यंत अस्थिर अंतरराष्ट्रीय वातावरण पैदा कर रहा है।

हर अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था को एक आधार की जरूरत होती है। इसे ऐसे नियमों की जरूरत होती है जिनका उल्लंघन करने से ताकतवर देश भी हिचकें। इसे ऐसे संस्थानों की जरूरत होती है जिनकी वैधता तब भी बनी रहे जब वे सभी को संतुष्ट करने में विफल रहें। इसे ऐसे तंत्र की जरूरत होती है जो संकटों को युद्धों में बदलने से रोकने में सक्षम हों। सबसे बढ़कर, इसके तहत बड़ी ताकतों को संयम बरतने की जरूरत का अहसास हो कि उनके अपने हितों के लिए भी स्थिरता जरूरी है।

अपने तमाम अंतर्विरोधों के बावजूद, द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की व्यवस्था ने इनमें से कुछ बुनियादी आधार प्रदान किए थे। संयुक्त राष्ट्र, ब्रेटन वुड्स संस्थान, अंतरराष्ट्रीय कानून, हथियार नियंत्रण समझौते और बहुपक्षीय कूटनीति ने ऐसे रास्ते दिए जिनसे विवादों को प्रबंधित किया जा सकता था। यह प्रणाली अक्सर चयनात्मक, असमान और अमेरिकी हितों से भारी रूप से प्रभावित थी, लेकिन फिर भी इसने एक हद तक पूर्वानुमान की स्थिति पैदा की। यहां तक कि जब बड़ी ताकतों ने अंतरराष्ट्रीय कानून की अनदेखी की, तब भी वे आमतौर पर अपने कार्यों को इसके दायरे के भीतर सही ठहराने के लिए मजबूर महसूस करते थे क्योंकि तब वैधता मायने रखती थी। आज वह वैधता गायब हो रही है और अंतरराष्ट्रीय कानून तेजी से चयनात्मक व्याख्याओं का विषय बनता जा रहा है। सैन्य हस्तक्षेपों, आर्थिक प्रतिबंधों, व्यापार प्रतिबंधों, साइबर हमलों और राजनीतिक जबरदस्ती को स्वीकृत कानूनी सिद्धांतों की अवहेलना करते हुए राष्ट्रीय हित के बहाने सही ठहराया जा रहा है। बड़ी ताकतें अब सामान्य नियमों को मजबूत करने की कोशिश नहीं कर रही हैं; वे अल्पकालिक रणनीतिक उद्देश्यों को पूरा करने के लिए उन्हें नए सिरे से लिख रही हैं। ईरान संघर्ष ने इस वास्तविकता को उजागर कर दिया है।

सैन्य संघर्षों ने यह दिखाया है कि सैन्य श्रेष्ठता अब राजनीतिक परिणामों की गारंटी नहीं। ईरान ने दिखाया है कि भारी प्रतिबंधों का सामना कर रहा एक क्षेत्रीय देश भी विषम क्षमताओं, क्षेत्रीय नेटवर्क और महत्वपूर्ण ऊर्जा मार्गों को बाधित करने की क्षमता से एक महाशक्ति पर रणनीतिक कीमत थोप सकता है। इसके साथ ही, इस संघर्ष ने अमेरिकी प्रभाव की सीमाओं को भी उजागर किया है।

इसका मतलब यह नहीं है कि अमेरिका अचानक कमजोर हो गया है। अमेरिका आज भी दुनिया की सबसे मजबूत सैन्य शक्ति है, अंतरराष्ट्रीय वित्तीय प्रणाली पर उसका दबदबा है और तकनीकी नवाचार में वह अत्यधिक प्रतिस्पर्धी है। डॉलर अब भी दुनिया की मुख्य आरक्षित मुद्रा है, और वर्तमान में किसी भी देश के पास सैन्य, वित्तीय, तकनीकी और सांस्कृतिक प्रभाव का वह संयोजन नहीं है जो वाशिंगटन के पास आज भी है। लेकिन यह ताकत अब प्रभुत्व या पूर्ण नियंत्रण का पर्याय नहीं रह गई है। अमेरिका अब भी घटनाओं को प्रभावित करने में सक्षम है, लेकिन वह उनके परिणामों को निर्धारित करने की अपनी क्षमता खो रहा है।

चीन अमेरिकी प्रभुत्व के लिए बड़ी दीर्घकालिक चुनौती बनकर उभरा है। पिछले उभरते देशों के विपरीत, बीजिंग ने वाशिंगटन के साथ सीधे सैन्य टकराव से परहेज किया है। इसके बजाय, उसने व्यापार, तकनीकी विकास, बुनियादी ढांचे के निवेश, कूटनीति और आर्थिक साझेदारी के माध्यम से अपना प्रभाव बढ़ाया है। उसकी 'बेल्ट एंड रोड इनिशिएटिव', दक्षिण और पश्चिम एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका में बढ़ती उपस्थिति, और एससीओ तथा ब्रिक्स जैसे रणनीतिक समूहों में उसकी बढ़ती भूमिका टकराव के बजाय पूरे धैर्य के साथ अपना प्रभाव बढ़ाने की रणनीति दिखाती है।

फिर भी चीन ने वैश्विक व्यवस्था के गारंटर के रूप में अमेरिका की जगह लेने की इच्छा नहीं दिखाई है। वह समकक्ष वैश्विक जिम्मेदारियों को उठाए बिना अधिक प्रभाव चाहता है। बीजिंग अपने आधिकारिक बयानों में लगातार बहुपक्षवाद का समर्थन करता है, लेकिन उसने दुनिया का प्राथमिक सुरक्षा प्रदाता बनने में बहुत कम रुचि दिखाई है। ईरान संघर्ष के दौरान, चीन ने तनाव बढ़ने की निंदा की और कूटनीति का आह्वान किया, लेकिन सीधे सैन्य जुड़ाव से सावधानीपूर्वक दूरी बनाए रखी। यह उसकी रणनीतिक सतर्कता को दिखाता है।

इसका परिणाम एक ऐसी दुनिया के रूप में सामने आया है जहां शक्ति तो बिखर रही है लेकिन जिम्मेदारी अपरिभाषित है- यह हमारे समय का सबसे बड़ा विरोधाभास है। कई ताकतें उभर रही हैं, लेकिन कोई भी एक नई अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था का निर्माण करने के लिए तैयार या सक्षम नहीं है जो व्यापक वैधता हासिल कर सके।

सामूहिक कार्रवाई को सुविधाजनक बनाने वाले संस्थान औपचारिक रूप से जीवित तो हैं लेकिन अप्रभावी हैं। संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद वीटो की राजनीति के कारण पंगु हो चुकी है। विश्व व्यापार संगठन विवादों को सुलझाने के

फोटो: गेटी इमेजेज

लिए संघर्ष कर रहा है। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक प्रतिनिधित्व और वैधता के सवालों का सामना कर रहे हैं। यहां तक कि जलवायु वार्ता, महामारी की प्रतिक्रिया, शरणार्थी संरक्षण और परमाणु कूटनीति भी अंतरराष्ट्रीय सहयोग के बजाय भू-राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता की भेंट चढ़ चुके हैं।

यह स्थिति बेहद चौंकाने वाली है। विश्व व्यवस्था ऐसे समय में चरमरा रही है जब मानवता आधुनिक इतिहास के किसी भी मोड़ की तुलना में बड़ी समस्याओं का सामना कर रही है, जब सामूहिक कार्रवाई की आवश्यकता सबसे अधिक है। जलवायु परिवर्तन राष्ट्रीय सीमाओं का पालन नहीं करता। आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस व्यक्तिगत सरकारों की क्षमता से परे जोखिम पैदा करता है। साइबर हमले महाद्वीपों की सीमाओं को पलक झपकते पार कर जाते हैं। वित्तीय अस्थिरता चंद घंटों में व्यापक क्षेत्रों को अपनी जद में ले लेती है। महामारियां हमें याद दिलाती हैं कि वायरस को किसी वीजा की जरूरत नहीं होती।

इतिहास इस मामले में कोई सांत्वना नहीं देता। प्रथम विश्व युद्ध से पहले के लंबे बहुध्रुवीय युग को पहले तो कई महाशक्तियों में एक स्थिर संतुलन के रूप में सराहा गया था। ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, रूस और आस्ट्रिया-हंगरी सभी का मानना था कि बदलते गठबंधन किसी भी एक देश को यूरोप पर हावी होने से रोकेंगे। इसके बजाय, संकट प्रबंधन के लिए प्रभावी तंत्र की अनुपस्थिति ने एक आर्कड्यूक की हत्या को विश्व युद्ध में बदल दिया। विश्वसनीय संस्थानों के बिना बहुध्रुवीयता तनाव को बढ़ने से रोकने में नाकाफी साबित हुई।

इसी तरह, यह मानने का कोई कारण नहीं है कि आज की बहुध्रुवीयता, या शक्ति का यह बिखराव, स्वतः ही अधिक स्थिरता पैदा करेगा। इसके विपरीत, जोखिम कहीं अधिक बड़े हो सकते हैं। ईरान युद्ध एक ऐसी दुनिया के आगाज की घोषणा करता है जिसमें कोई भी एक ताकत नतीजों को तय नहीं कर सकती, फिर भी कई शक्तिशाली देशों के बीच प्रतिस्पर्धा को प्रबंधित करने के लिए कोई सामूहिक तंत्र मौजूद नहीं। अमेरिका अब उस तरह के निर्बाध नेतृत्व को बनाए नहीं रख सकता जो शीत युद्ध के बाद के दशकों की विशेषता थी। चीन उसकी जगह लेने के लिए आगे नहीं आया है। रूस रचनात्मक होने के बजाय विनाशकारी अधिक है। यूरोप आंतरिक रूप से विभाजित और नेतृत्वविहीन है। भारत 'रणनीतिक स्वायत्तता' की कसम खाता है लेकिन उसने ग्लोबल साउथ की आवाज बनने का मौका गंवा दिया है।

अंततः, ईरान युद्ध को अमेरिकी सदी के अंत के रूप में नहीं, बल्कि एक नेतृत्व-विहीन और अराजक युग की शुरुआत के रूप में याद किया जाएगा। यह किसी नई वैश्विक व्यवस्था का आगमन नहीं है; यह एक 'व्यवस्था-शून्य' विश्व का उदय है। यहां बहुपक्षवाद केवल बातों में जीवित है, अंतरराष्ट्रीय कानून बेमानी हो चुका है, और वैश्विक स्थिरता अब किन्हीं तयशुदा नियमों के बजाय केवल शक्ति और रणनीतिक जोखिम के बदलते आकलनों के रहमोकरम पर है। ■

ईरान युद्ध ने किसी 'नई विश्व व्यवस्था' का आगाज नहीं किया है, बल्कि एक ऐसी व्यवस्थाहीन दुनिया का खाका पेश किया है, जहां वैश्विक स्थिरता सहमत नियमों पर नहीं बल्कि ताकत के बदलते समीकरणों पर टिकी है

अशोक स्वैन स्वीडन की उप्साला यूनिवर्सिटी में पीस एंड कॉन्फ्लिक्ट रिसर्च के प्रोफेसर हैं

भाजपा के बंगाल में मुसलमान होने के मायने

राज्य 360° पश्चिम बंगाल

पश्चिम बंगाल में भाजपा की सत्ता आने के बाद मुसलमान समुदाय आतंक में जी रहा है

कुणाल चटर्जी

पश्चिम बंगाल के मुख्यमंत्री सुभेंदु अधिकारी के दावे कि उनकी सरकार 10,000 बांग्लादेशियों को पहले ही वापस भेज चुकी है, आमतौर पर कहीं से चुनौती नहीं मिली। विपक्ष ने भी इसका कोई ब्योरा नहीं मांगा। नई दिल्ली, ढाका या सीमा सुरक्षा बल (बीएसएफ) की तरफ से भी इसकी पुष्टि नहीं हुई है। बांग्लादेश बॉर्डर गार्ड्स (बीबीजी) ने तो कह दिया कि भारतीय मुसलमानों को बांग्लादेश भेजने की बीएसएफ की कम-से-कम 30 कोशिशें उन्होंने नाकाम की हैं। ढाका का कहना है कि डिपोर्टेशन (लोगों को वापस भेजने) के लिए सही पहचान और जांच जरूरी है, फिर भी राज्य सरकार की तेजी से की गई कार्रवाई केन्द्रीय गृह मंत्रालय की तय आधिकारिक प्रक्रियाओं के खिलाफ है।

आखिर ये "बिना दस्तावेज वाले बांग्लादेशी" थे कौन? कहां रहते थे, कहां काम करते थे और नागरिकता के दस्तावेज उन्हें कैसे मिल गए? सीमावर्ती जिलों में रहने वाले अनेक भारतीय मुसलमान बढ़ते भय और अनिश्चितता के माहौल में जी रहे हैं, लेकिन इन सवालों के जवाब नहीं मिल रहे।

मुर्शिदाबाद के वासिप बिस्वास ने 'स्क्रॉल.इन' को मालदा के 12 ऐसे मुसलमानों के बारे में बताया, जिन्हें बांग्लादेशी घोषित कर दिया गया था और 9 मई को अधिकारी के मुख्यमंत्री बनने के तुरंत बाद एक होल्डिंग सेंटर भेज दिया गया। उन्होंने कहा, "वे सभी एक ही परिवार के हैं।" बिस्वास और उनके बड़े भाई, जो बीएसएफ में काम करते हैं, उन 27 लाख वोटरों में शामिल हैं (जिनमें से बड़ी संख्या मुसलमानों की है) जिनके नाम वोटर लिस्ट के 'स्पेशल इंटेंसिव रिविजन' (एसआईआर) के बाद हटाए गए थे। उनकी ऑनलाइन अपीलों पर कोई अपडेट नहीं है। न कोई आमने-सामने सुनवाई हुई और न ही यह पता है कि उन पर आगे कब विचार होगा। कल्याणकारी योजनाओं से अलग किए जाने और अन्य लाभ से हाथ धो बैठने की अनिश्चितता के भय ने उन्हें अलग ही परेशान कर रखा है।

कोई नहीं जानता कि एसआईआर के तहत उनके नाम क्यों हटे, जबकि कानूनन नाम हटाने से पहले लिखित तौर पर कारण बताना और अपनी बात रखने का मौका देना जरूरी है। मुर्शिदाबाद के एक 75 वर्षीय मुस्लिम वकील का नाम वोटर लिस्ट से हट गया था; उन्होंने सुप्रीम कोर्ट में अपील की। कोर्ट ने अनिच्छा से ही सही, माना कि इस बात के पर्याप्त सबूत हैं कि वे आधी सदी से भारतीय अदालतों में वकालत कर रहे थे, और मामले का जल्द समाधान करने का आदेश दिया। लेकिन उन गरीबों या अन्य नागरिकों का

फोटो: आईएनएस

कड़ी निगरानी के बीच पश्चिम बंगाल के अलग-अलग हिस्सों में रह रहे संदिग्ध बांग्लादेशी हाकिमपुर बॉर्डर चेकपॉइंट पर

क्या, जिनकी कोई पहुंच नहीं है?

कोलकाता में विरोध प्रदर्शन भी अब कम हो गए हैं। मई तक दो महीने पार्क सर्कस मैदान के प्रदर्शनों में सक्रिय रूप से शामिल रहने वाले प्रोफेसर काज़ी मोहम्मद अल्फ्रेड कहते हैं, "विरोध करना बहुत जोखिम भरा हो गया है। कुछ भी करने से पहले कार्यकर्ताओं को कई बार सोचना पड़ता है।"

पश्चिम बंगाल में बेहतर स्थिति वाले मुसलमान भी अब सुरक्षित महसूस नहीं करते। हाईकोर्ट के रिटायर्ड जज, जस्टिस शाहिदुल्लाह मुंशी का मामला महज एक उदाहरण है। 'तार्किक विसंगतियों' के नाम पर उन्हें और उनके परिवार को वोटर लिस्ट से हटा दिया गया। 'बार एंड बेंच' को उन्होंने इंटरव्यू क्या दिया, 48 घंटे में उनका वोटिंग अधिकार बहाल हो गया। ऑक्सफोर्ड से पढ़े-लिखे एंथ्रोपोलॉजिस्ट आदिल हुसैन एक प्राइवेट यूनिवर्सिटी में पढ़ाते हैं और उनके पास वैध पासपोर्ट भी है, लेकिन अब भी लिस्ट से बाहर हैं। उन्होंने 'स्क्रॉल' से कहा, "हमें नहीं पता कि जिन लोगों के पास वोटिंग का अधिकार नहीं है, उनके लिए वे किस तरह के नियम बनाएंगे।"

*

बंगाल के मुसलमान मानते हैं कि उन्होंने कभी इतना असुरक्षित महसूस नहीं किया। पीढ़ियों के साथ धुंधली पड़ चुकी 1946-47 के दंगों की यादें उन्हें फिर डराने लगी हैं। कलकत्ता यूनिवर्सिटी के पहले मुस्लिम वाइस-चांसलर के नाम पर रखे गए सुहरावर्दी एवेन्यू का नाम बदलकर गोपाल मुखर्जी रोड करना, जिन्हें दंगाइयों में शामिल होने के बावजूद हिन्दुओं के रक्षक के तौर पर महिमामंडित किया गया, ऐसा ही एक कदम है। 6 जुलाई से पूरे एक साल भारतीय जनसंघ के संस्थापक श्यामा प्रसाद मुखर्जी की 125वीं जयंती मनाने का फैसला भी ऐसा ही एक और कदम है।

सांप्रदायिकता का वायरस तेजी से फैल रहा है। रोजमर्रा की जिंदगी में, मुसलमानों के खिलाफ नफरत और दुश्मनी में चिंताजनक बढ़ोतरी देखी जा रही है। स्कूल में बड़े लड़के जिस तरह "पाकिस्तानी" और "गद्दार" कहकर बुलाते, दस साल का शेख असिरुद्दीन घर लौट आया। शिक्षकों ने काउंसलिंग का वादा किया था, लेकिन मां-बाप परेशान हैं कि नफरत और शक का जहर जिस तरह आस-पड़ोस में फैल चुका है, कोई सरकारी मदद क्या ही पहुंचेगी।

गार्डन रीच जैसे मुस्लिम इलाकों में लोग तनावपूर्ण नई हकीकत की बात तो करते हैं, लेकिन दबी आवाज में। किसी भी वक्त होने वाली जांच का डर ऐसा कि लोग प्रॉपर्टी के कागजात और पहचान-पत्र हमेशा पास रखते हैं। एक परेशानहाल स्थानीय निवासी ने कहा, "हमारी गली में जब भी कोई गाड़ी रुकती है, सब यह देखने बाहर आ जाते हैं कि कौन आया है!" घर से बेदखली के डर ने लोगों की नींद उड़ा दी है। जबरन विस्थापन का खतरा अब दूर की बात नहीं लगती।

हाल ही में शहर के एक होटल में हुई बैठक में मुस्लिम वक्ताओं ने माना कि समुदाय अब वैसी ही जिंदगी से रू-ब-रू हो रहा है, जिसे वे अब तक भाजपा-शासित दूसरे राज्यों में सुनते आए थे। टंगरा, तिलजला, खिदरपुर, इकबालपुर, गार्डन रीच और पार्क सर्कस जैसे मुस्लिम-बहुल इलाकों में तोड़-फोड़ की अफवाहें आम हैं, जबकि अन्य जगहों पर बने अवैध निर्माण कोई छू भी नहीं रहा। 'लव जिहाद', बांग्लादेशियों की घुसपैठ, यूनिफॉर्म सिविल कोड और 'मुस्लिम असामाजिक तत्वों' की गिरफ्तारियों की बातें डर की आग में घी का काम कर रही हैं।

कुछ ज्यादा ही सक्रिय पुलिस साइबर सेल सरकार की आलोचना करने वालों पर बेरहमी से कार्रवाई करते हैं, जबकि कट्टरपंथी सांप्रदायिक आवाजें बिना किसी रोक-टोक के ऑनलाइन फैलती रहती हैं। 'नफरत की यह महामारी' सार्वजनिक बातचीत और रोजमर्रा के मेल-जोल में जहर घोल रही है।

उन्हें आर्थिक रूप से हाशिये पर धकेला जा रहा है। व्यवसायी मंज़र जमील कहते हैं कि ऑर्डर तेजी से घट रहे हैं और फैक्टरी की लाइनें बंद हो रही हैं। ठहरे हुए स्वर में कहते हैं, "बंगाल ही नहीं, पूरे भारत में मुसलमान हाशिये पर धकेले जा रहे हैं।" शिक्षा और रोजगार में कम प्रतिनिधित्व उनकी स्थिति को और बदतर करता है। सड़क पर सामान बेचने पर रोक लगाने से छोटे-मोटे रोजगार खत्म हो रहे हैं, जिसका सबसे ज्यादा असर मुस्लिम कामगारों पर पड़ रहा है।

मुस्लिम शिक्षा को समर्थन न देने की सरकारी नाकामी खास तौर पर और शिद्दत से महसूस की जा रही है। मदरसों में आतंकवाद को बढ़ावा देने जैसे आरोपों को समुदाय बेबुनियाद मानता है। मुस्लिम छात्रों को 'वंदे मातरम' गाने के लिए मजबूर करना, जबरदस्ती सांस्कृतिक रूप से घुलने-मिलने पर मजबूर करने और क्रूरता के समान माना जाता है।

लोगों की चहल-पहल और गपशप से भरी रहने वाली पार्क सर्कस की सड़कों पर भी सतर्क खामोशी छा गई है। यह इलाका हमेशा लोगों के हंसी-ठहाकों, मजाक-मस्ती, बहस-मुबाहिसे और एक-दूसरे को बिंदास कुछ भी कहने से गुलजार रहता था। अब लोग सतर्क दिखते हैं और बेकार की बहस से बचते हैं। एक फार्मासिस्ट ने कहा, "पहले इन बातों पर कोई ज्यादा ध्यान नहीं देता था।" मुस्लिम महिलाओं में पुरुषों की एक जमात में पनपी मनमानी और अश्लील हरकतों की शिकायतें अचानक बढ़ी हैं और यह नया चलन उन्हें परेशान कर रहा। उन्होंने आगे कहा, "ऐसा लगता है जैसे उन्हें ऐसा करने की खुली छूट मिल गई हो।"

अन्य अल्पसंख्यक समुदायों और विपक्षी पार्टियों के नेता एकजुट होने की बात कर रहे हैं। टीएमसी नेता प्रतिकुर रहमान ने कहा, "सिर्फ मुसलमान ही नहीं, दलित, ईसाई और दूसरे अल्पसंख्यक समुदाय भी निशाने पर हैं और उन्हें एकजुट होना होगा। यह लड़ाई मिलकर लड़नी होगी।" हालांकि, विभाजित विपक्ष और कमजोर प्रतिनिधित्व की वजह से यह समुदाय लगातार अलग-थलग पड़ता जा रहा है। फिलहाल राज्य में भाजपा को कोई खास प्रतिरोध नहीं झेलना पड़ रहा है।

पश्चिम बंगाल के मुसलमान खुद को ऐसी सत्ता के सामने घिरा हुआ महसूस कर रहे हैं जो कानून और सामाजिक हकीकत, दोनों को ही बदलने पर आमादा है। निष्कासन, बेदखली और सांप्रदायिक उकसावे जैसी चीजों के बीच वे हर दिन भाजपा-शासित राज्य में रहने की कड़वी सच्चाई का सामना करने को अभिशप्त हैं। ■

पश्चिम बंगाल के मुसलमान खुद को ऐसी सत्ता के सामने घिरा महसूस कर रहे हैं जो कानून और सामाजिक हकीकत, दोनों बदलने पर आमादा है। वे निष्कासन, बेदखली और सांप्रदायिक उकसावे जैसी स्थितियां झेलने को मजबूर हैं

चीन का फायदा, भारत देखता रह गया

ढाका के चीनी निवेश और बुनियादी ढांचा परियोजनाओं के लिए बाहें फैलाने से भारत के सामने नई सुरक्षा चुनौतियां

ढाका से फैजल महमूद और कोलकाता से सौरभ सेन

बांग्लादेश के प्रति भारत की नीति मोटे तौर पर केवल अपनी घरेलू चिंताओं तक सिमटी हुई है; जैसे अवैध प्रवासियों को वापस खदेड़ना या सीमा पर जमात के बढ़ते प्रभाव का हौव्वा खड़ा करना। ये ऐसे मुद्दे हैं जिनका एकमात्र उद्देश्य पश्चिम बंगाल में बहुसंख्यक वोटों का ध्रुवीकरण करना और उन्हें अपने पाले में लाना है। इस बीच, बांग्लादेश की नई सरकार ने बिना कोई समय गंवाए यह संकेत दे दिया है कि वह देश का आर्थिक भविष्य कहां देखती है। प्रधानमंत्री तारिक रहमान की हालिया बीजिंग यात्रा, जो पीएम के रूप में उनकी पहली विदेश यात्रा थी, में निवेश, प्रौद्योगिकी और बुनियादी ढांचे पर समझौतों की झड़ी देखी गई।

यहां एक और भी अहम बदलाव हुआ। इस यात्रा ने उन तीन परियोजनाओं को जिंदा कर दिया जो सालों से लटकी थीं- मोंगला बंदरगाह पर चीनी समर्थित आर्थिक क्षेत्र, लंबे समय से लंबित तीस्ता नदी प्रबंधन और बहाली परियोजना, और प्रस्तावित चीन-म्यांमार-बांग्लादेश आर्थिक गलियारा। ये सब मिलकर बताते हैं कि बांग्लादेश की विदेश नीति चीन आधारित कूटनीति को मजबूत करने का इरादा रखती है।

दशकों तक, बांग्लादेश के बाहरी जुड़ाव मुख्य रूप से सहायता, व्यापार प्राथमिकताओं और विकास साझेदारियों से आकार लेते थे। आज, उसकी आकांक्षाएं बिल्कुल अलग हैं। निम्न-मध्यम-आय वर्ग की दहलीज को पार करने और 2029 में संयुक्त राष्ट्र की सबसे कम विकसित देशों की श्रेणी से बाहर निकलने की तैयारी करने के साथ, ढाका तेजी से ऐसे विदेशी रिश्ते तलाश रहा है जो औद्योगिक निवेश, आधुनिक बुनियादी ढांचा और एशियाई आपूर्ति श्रृंखलाओं में गहरी तारतम्यता दे सकें।

यही उद्देश्य चीनी राष्ट्रपति शी जिनपिंग और प्रीमियर ली कियांग के साथ रहमान की बातचीत का ढांचा बना। दोनों सरकारों ने आपसी रिश्तों को उस स्तर तक बढ़ाया जिसे बीजिंग ने 'साझा भविष्य के साथ चीन-बांग्लादेश समुदाय' के रूप में वर्णित किया। दोनों सरकारों ने बेल्ट एंड रोड इनिशिएटिव (बीआरआई) के तहत सहयोग की पुष्टि की और उन परियोजनाओं को गति देने पर प्रतिबद्धता जताई जिन्हें बांग्लादेश अपने आर्थिक विकास के अगले चरण के लिए जरूरी मानता है।

इनमें सबसे प्रमुख मोंगला है, जो बांग्लादेश का दूसरा सबसे बड़ा बंदरगाह है। दक्षिण-पश्चिम में एक रणनीतिक स्थिति होने के बावजूद, यह देश के सबसे व्यस्त बंदरगाह चटगांव की छाया में लंबे समय से दबा रहा। पिछले दशक में काफी निवेश ने इसकी नौवहन क्षमता में सुधार किया, कार्गो संभालने की क्षमता का विस्तार किया और पद्मा पुल तथा संबंधित परिवहन नेटवर्क के जरिये सड़क और रेल संपर्क को मजबूत किया है। फिर भी यह एक बड़ा औद्योगिक केन्द्र नहीं बन पाया है।

इसके हल के रूप में सरकार की योजना चीनी भागीदारी के साथ बंदरगाह के पास एक निर्यात-उन्मुख आर्थिक क्षेत्र विकसित करना है, जिससे मोंगला को केवल एक समुद्री प्रवेश द्वार के बजाय एक विनिर्माण और रसद क्लस्टर में बदला जा सके। अधिकारियों को उम्मीद है कि इस कदम से क्षेत्रीय और अंतरराष्ट्रीय बाजारों की सेवा करने वाली फैक्ट्रियां आकर्षित होंगी, साथ ही वेयरहाउसिंग, परिवहन, जहाज निर्माण और सहायक उद्योगों में निवेश को बढ़ावा मिलेगा। यह बांग्लादेश की औद्योगिक नीति में एक बड़े बदलाव को दिखाता है। बुनियादी ढांचे को अपने आप में एक अंत मानने के बजाय, सरकार बंदरगाहों, राजमार्गों और रेलवे को ऐसे औद्योगिक पारिस्थितिकी तंत्र के मंच के रूप में देखती है जो रोजगार पैदा करने, निर्यात बढ़ाने और उत्पादकता बढ़ाने में सक्षम हैं।

यही तीस्ता नदी परियोजना को लेकर पैदा नई जल्दबाजी की भी व्याख्या करता है। एक दशक से अधिक समय से, नीति निर्माताओं ने बांग्लादेश की चौथी सबसे बड़ी नदी के किनारे व्यापक हस्तक्षेप पर सोच-विचार किया है। ये प्रस्ताव केवल ड्रेजिंग या तटबंध निर्माण से कहीं आगे जाते हैं।

यह परियोजना नदी की बहाली, बाढ़ सुरक्षा, सिंचाई के आधुनिकीकरण, शहरी विकास और भूमि सुधार के जरिये उत्तरी बांग्लादेश के आर्थिक भूगोल को नया आकार देना चाहती है। अधिकारियों का तर्क है कि शुष्क मौसम के दौरान पानी की उपलब्धता में सुधार करते हुए मौसमी बाढ़ को नियंत्रित करने से कई जिलों में कृषि उत्पादकता में उल्लेखनीय वृद्धि हो सकती है।

इसलिए प्रमुख नदी प्रणालियों के आधुनिकीकरण को केवल पर्यावरण प्रबंधन के रूप में नहीं, बल्कि उत्पादकता और दीर्घकालिक विकास में निवेश के रूप में देखा जाता है। बीजिंग से लौटने के बाद रहमान की यह घोषणा कि तीस्ता परियोजना 'बिना किसी देरी के' आगे बढ़ेगी, प्रशासन के योजना से कार्यान्वयन की ओर बढ़ने के दृढ़ संकल्प को रेखांकित करती है।

इस यात्रा का तीसरा स्तंभ संपर्क है। बांग्लादेश और चीन ने पूर्वी बंगाल की खाड़ी में परिवहन और वाणिज्यिक संपर्कों को मजबूत करने के उद्देश्य से एक पहल, चीन-म्यांमार-बांग्लादेश आर्थिक गलियारे को आगे बढ़ाने के लिए समर्थन दोहराया।

यह प्रस्ताव खुद को दक्षिण एशिया और दक्षिण-पूर्व एशिया के बीच एक लॉजिस्टिक पुल के रूप में स्थापित करने की बांग्लादेश की पुरानी महत्वाकांक्षा को पूरा करता है। बेहतर सड़क, रेल और समुद्री संपर्क से परिवहन लागत कम होगी, डिलीवरी का समय घटेगा और बांग्लादेशी निर्माता क्षेत्रीय उत्पादन नेटवर्क में अधिक गहराई से भाग ले पाएंगे।

वह उद्देश्य तेजी से अहम हो गया है क्योंकि बांग्लादेश सिलेसिलाए कपड़ों के अलावा विविधता चाहता है, बेशक परिधान देश का प्रमुख निर्यात क्षेत्र बना हुआ है। ढाका का संदेश साफ है- चीन उन गिने-चुने साझेदारों में से एक के रूप में उभरा है जो इन तीनों को एक साथ प्रदान करने में सक्षम है।

भारत के नजरिये से, मोंगला बंदरगाह का अपग्रेडेशन- भले ही कोलकाता और हल्दिया के व्यावसायिक हितों को तुरंत प्रभावित न करे- क्षेत्रीय व्यापार समीकरण को बदल देगा और गंभीर रणनीतिक एवं सुरक्षा चिंताएं पेश करेगा। यह बंगाल की खाड़ी में सीधे समुद्री प्रतिस्पर्धा की शुरुआत करेगा, श्यामा प्रसाद मुखर्जी पोर्ट (कोलकाता और हल्दिया) का मुख्य महत्व भारत के पूर्वी घरेलू भीतरी इलाकों की सेवा करने से जुड़ा हुआ है, जिसमें उत्तर-पूर्व और नेपाल तथा भूटान जैसे भूमि से घिरे पड़ोसी शामिल हैं।

जबकि नेपाल सक्रिय रूप से चीन के साथ रसुवागढ़ी-गिरोंग और तत्तापानी-झांगमू में अपने उत्तरी दर्रों का उपयोग द्वितीयक जीवन रेखा के रूप में करता है, भूटान चीन के साथ शून्य संपर्क की सख्त नीति बनाए रखता है। हालांकि, 2017 में पश्चिमी भूटान के डोकलाम में 'खाली जमीन' पर अतिक्रमण और उपग्रह चित्र चीनी गांवों के निर्माण और उन क्षेत्रों के भीतर 'सीमा रक्षकों' की तैनाती जाहिर करते हैं जिन्हें भूटान अपना क्षेत्र मानता है। विशेषज्ञों का कहना है कि यह केवल समय की बात है जब इस तरह के 'अतिक्रमण' उत्तर से नेपाल और भूटान को चीन से जोड़ने वाली बारहमासी सड़कों में बदल जाएंगे, जिससे इस क्षेत्र में भारत की बढ़त कमजोर हो जाएगी।

भारतीय खुफिया और रक्षा विशेषज्ञ चिंतित हैं कि एक अपग्रेडेड मोंगला-जो कोलकाता से 188 किमी और भारतीय सीमा से केवल 80 किमी दूर स्थित है- अत्यधिक चिंताजनक होगा।

हालांकि भारत के विदेश मंत्रालय के वरिष्ठ अधिकारी पर्याप्त पानी की कमी के कारण तीस्ता नदी परियोजना को व्यावहारिक नहीं मानकर खारिज करते हैं, लेकिन मोंगला बंदरगाह में चीन की भागीदारी जैसी ही सुरक्षा चिंताएं यहां भी हैं।

तारिक रहमान की पहली विदेश यात्रा चीन की होना और प्रमुख बुनियादी ढांचा परियोजनाओं का चीन को हस्तांतरण, क्षेत्रीय पारगमन निर्भरता को भारतीय नेटवर्क से दूर करने की बांग्लादेश की पहल व्यापक नीतिगत बदलाव का संकेत देता है। यह बदलाव पश्चिम बंगाल चुनावों की तैयारियों के दौरान भाजपा नेताओं की बांग्लादेश-विरोधी बयानबाजी और सीमावर्ती जिलों में कट्टरपंथी तत्वों के उभरने की चिंताओं से और बढ़ गया है।

इस बीच, अमेरिकी युद्ध विभाग द्वारा अपने इंडो-पैसिफिक कमांड से 'इंडो' को हटाना, इस बात पर कोई संदेह नहीं छोड़ता कि रणनीतिक शून्यता को कौन भर रहा है। बांग्लादेश मामलों की विशेषज्ञ श्रीराधा दत्ता ने बिम्सटेक जैसी भारत-केन्द्रि0त क्षेत्रीय पहलों के अवसान पर खेद जताती हैं, 'इसमें संदेह नहीं है कि चीन की अब बंगाल की खाड़ी क्षेत्र में अधिक मजबूत उपस्थिति है। हालांकि बांग्लादेश ने भारत के साथ मिलकर काम करने की इच्छा जताई है, लेकिन ऐसा कोई कारण नहीं है कि वह चीन के साथ अपने जुड़ाव को गहरा या विस्तारित नहीं करे।' ■

फैजल महमूद ढाका में रहने वाले पत्रकार और सौरभ सेन कोलकाता में रहने वाले टिप्पणीकार हैं

फोटो: गेटी इमेजेज

भारत की ओर से 'अवैध प्रवासियों' को सीमा पार भेजने की कोशिशों के खिलाफ बांग्लादेश में विरोध-प्रदर्शन। चीन में शी जिनपिंग के साथ तारिक रहमान

तारिक रहमान की चीन की पहली विदेश यात्रा और प्रमुख बुनियादी ढांचा परियोजनाओं का चीन को सौंपा जाना, क्षेत्रीय पारगमन निर्भरता को भारतीय नेटवर्क से दूर करने की बांग्लादेश की व्यापक नीतिगत बदलाव का संकेत देता है

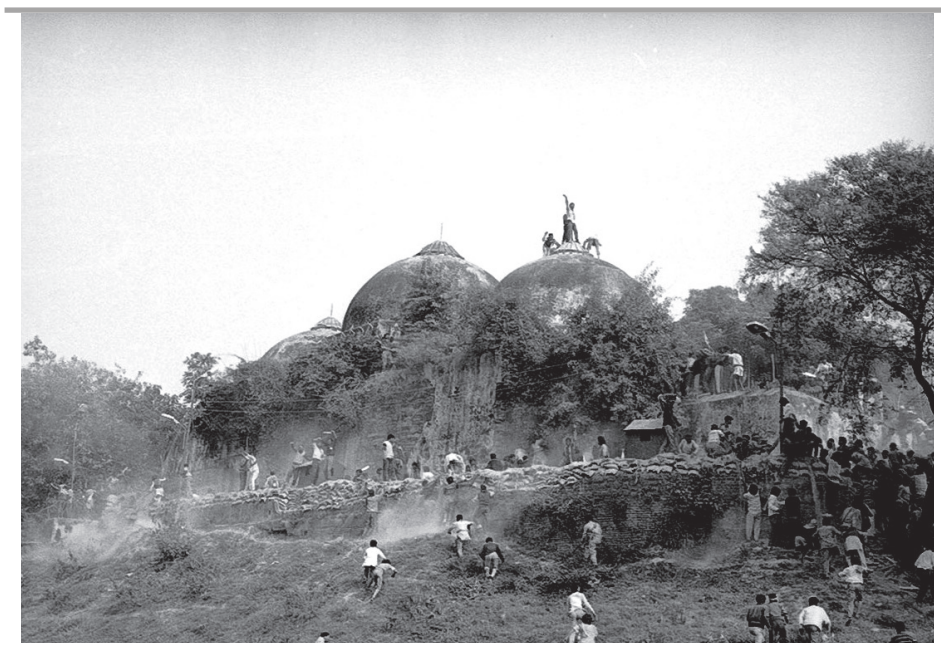

अयोध्या में बाबरी मस्जिद गिराए जाने से पहले उसके ऊपर मौजूद कारसेवक

इतिहास बनाम हिन्दुत्ववादी मिथक

प्राचीन भारतीय इतिहास की प्रतिष्ठित विदुषी रोमिला थापर के हाल ही में प्रकाशित संस्मरण बताते हैं कि आखिर वह हिन्दुत्ववादी खेमे के निशाने पर क्यों रहती हैं

सुभोरंजन दासगुप्ता

बाबरी मस्जिद को साल 1992 में ढहा दिया गया था। भाजपा, उसके वैचारिक मार्गदर्शक आरएसएस और राम जन्मभूमि आंदोलन की कमान संभालने वाले उसके आक्रामक सहयोगी संगठन विश्व हिन्दू परिषद के लिए यह एक सभ्यतागत जीत का क्षण था। लेकिन अन्य भारतीयों के लिए, जो अब भी एक बहुत बड़ा बहुसंख्यक वर्ग है और जिसमें मुख्य रूप से हिन्दू शामिल हैं जो अपने संविधान के बहुलवाद के प्रति गौरव महसूस करते हैं, यह इस बात का एक भयानक अहसास था कि विभाजन का प्रेत अब भी शांत नहीं हुआ है और देश में धार्मिक कट्टरता न केवल जिंदा है बल्कि बाकायदा फल-फूल रही है।

प्राचीन और प्रारंभिक मध्यकालीन भारतीय इतिहास के अकादमिक लेखन के खिलाफ असंतोष की पहली गूंज 1977 में आपातकाल के बाद सत्ता में आई पहली गैर-कांग्रेसी जनता पार्टी सरकार के दौरान सुनाई दी थी। भाजपा अपने पूर्व अवतार भारतीय जनसंघ के रूप में, इस सरकार में एक प्रभावशाली भागीदार थी और उसने अपनी ताकत का इस्तेमाल उस इतिहास के प्रति अपनी अधीरता को व्यक्त करने के लिए किया जो तब तक पढ़ाया जा रहा था। तत्कालीन प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई जनसंघ के रुख से इतने प्रभावित थे कि उन्होंने फरमान दिया कि 'एनसीईआरटी द्वारा निर्धारित इतिहास की पाठ्यपुस्तकों को प्रतिबंधित कर दिया जाए, जो कि एक चौंकाने वाला कदम था।' ('जस्ट बीइंगः ए मेमोइर', सीगल बुक्स, पृष्ठ 20)।

नीति में आए इस क्रांतिकारी बदलाव के कारण जो टकराव शुरू हुआ, वह जल्द ही रोमिला थापर जैसे पुराने दौर के दिग्गज इतिहासकारों पर तीखे व्यक्तिगत हमलों में बदल गया। दिल्ली में बैठे अपने आकाओं के इशारे पर अमीर प्रवासी भारताय उपहास उड़ाते हुए टिप्पणी करने लगे कि 'मैं (रोमिला थापर) इतिहासकार के रूप में अयोग्य और विद्वान के रूप में अक्षम हूं, और मुझे इस पद पर कभी नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए था।' (पृष्ठ 221)।

बहरहाल, जनता पार्टी का यह प्रयोग बहुत जल्दी बिखर गया, जिसका असर यह हुआ कि भारतीय इतिहास को हिन्दुत्व के एजेंडे के अनुकूल लिखने के इस प्रोजेक्ट को 1998 में अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में पहली एनडीए सरकार के आने तक इंतजार करना पड़ा।

ऊपरी तौर पर वाजपेयी ने यह कहकर एक उदार रुख दिखाने का प्रयास किया कि 'भारत धर्मनिरपेक्ष था, है और रहेगा,' लेकिन उन्होंने अपने आक्रामक मानव संसाधन विकास मंत्री मुरली मनोहर जोशी को रोकने के लिए कुछ नहीं किया, जिन्होंने इतिहास के इस प्रोजेक्ट को दोबारा जीवित किया और इरफान हबीब, सर्वपल्ली गोपाल और अपनी धुर विरोधी रोमिला थापर के पीछे पड़ गए। खुद थापर के शब्दों में, '1980 के दशक में शुरू हुई जान से मारने की धमकियां अक्सर आधी रात को फोन पर दी जाती थीं' (पृष्ठ 222)। वे 'मुझे एक ऐसे खतरे के रूप में देखते थे जिसे चुप कराया जाना बेहद जरूरी था।' (पृष्ठ 481)।

मैं अक्सर सोचता हूं कि थापर ही उनका मुख्य निशाना क्यों बनीं? इसके दो कारण समझ आते हैं। थापर की रुचि का क्षेत्र प्राचीन भारत या तथाकथित 'हिन्दू और मुस्लिम-पूर्व भारत' रहा है, जिसे देश के नव-आर्य अपना एकाधिकार मानते हैं। और इस बेबाक विद्वान ने मुस्लिम आक्रमणकारियों के आने से पहले इस धरती पर मौजूद कथित शांति, सद्भाव और भव्यता के दावों पर कड़े सवाल खड़े कर दिए।

वास्तव में रोमिला थापर और प्रसिद्ध अमेरिकी इतिहासकार रिचर्ड ईटन ने अपने शोध से इस तरह के 'हिन्दू भारत' के मिथक को पूरी तरह ध्वस्त कर दिया था। जहां थापर ने (खास तौर पर अपने 2020 के निबंधों के संग्रह 'वॉइसेज ऑफ डिसेंट' में) ब्राह्मणों और श्रमणों (अमूमन घर-बार छोड़ने संन्यासी) के बीच के कड़वे विवादों को उजागर किया जिसकी वजह से खून-खराबा तक हुआ, वहीं ईटन ने हिन्दू राजाओं की भीषण लड़ाइयों का विवरण देते हुए कहा है कि इन लोगों ने न केवल पराजित राजाओं के राज्यों को लूटा बल्कि उनके मंदिरों और उसमें देवी-देवताओं की मूर्तियों को भी नष्ट कर दिया। ('टेंपल डेसिग्रेशन एंड मुस्लिम स्टेट्स इन मेडिवल इंडिया', 2004)।

यानी, हिन्दू मंदिरों की लूटपाट, जिसे हिन्दुत्ववादी मंदिरों को अपवित्र करने के रूप में पेश किया जाता है, सन 1001 के आसपास महमूद गजनवी के आने से बहुत पहले हमारी सनातनी धरती पर शुरू हो चुकी थी। हिन्दुत्व के जो पैरोकार थापर को चुनौती देते हैं, वे खुद पतंजलि के 'महाभाष्य' (ईसा पूर्व दूसरी सदी) को देख सकते हैं, जिन्हें वे बेहद पूजनीय मानते हैं। थापर अक्सर इसका हवाला देती हैं जहां पतंजलि ने ब्राह्मणों और श्रमणों के संबंध को 'सांप और नेवले' जैसा बताया है।

थापर हिन्दुत्व के झंडाबरदारों की आंखों की किरकिरी इसलिए भी बनीं क्योंकि उन्होंने स्कूली छात्रों के लिए इतिहास की पाठ्यपुस्तकें लिखी थीं। उनके अपने शब्दों में: 'मुझे हिन्दुत्ववादियों द्वारा एक अस्वीकार्य इतिहासकार के रूप में मेरी अकादमिक किताबों के कारण नहीं, बल्कि मुख्य रूप से उन पाठ्यपुस्तकों के कारण देखा गया जो मैंने माध्यमिक स्कूलों के लिए लिखीं। पाठ्यपुस्तकें इतिहास या किसी भी ज्ञान की लोकप्रिय व्याख्या को दुरुस्त करने में केन्द्रीय भूमिका निभाती हैं।' (पृष्ठ 218-219)।

हिन्दुत्ववादी इतिहास के बुनियादी मिथकों को समझना बेहद जरूरी है। हमें यकीन दिलाया जाता है कि भारत का मुस्लिम-पूर्व 'सनातनी' अतीत सामाजिक सद्भाव का दौर था। इस विचार को बनाए रखने के लिए, यह उस दौर के अमानवीय जातीय और जातिगत उत्पीड़न को पूरी तरह नजरअंदाज कर देता है। इसे 'शांति का युग' मानना महाकाव्य महाभारत के अंतहीन युद्ध की गाथा को नकारना है, और यह 'अश्वमेध यज्ञ' की उस साम्राज्यवादी प्रथा को भूल जाना है जिसने इसी दौर में हिन्दू राज्यों के बीच लगातार होने वाले युद्धों को हवा दी।

इस सनातनी हिन्दू सभ्यता के बारे में दूसरा मिथक विज्ञान और कला के क्षेत्र में उसकी प्रगति के बढ़ा-चढ़ाकर किए गए दावे हैं, जिसमें प्लास्टिक सर्जरी और हवाई जहाजों की खोज शामिल है। माना जाता है कि यह सभ्यता ज्ञान का सबसे बड़ा स्रोत थी, एक ऐसा स्वर्ग जिसे मुस्लिम आक्रमणकारियों ने लूटा, और इस धरती पर उनके पांच सदियों के शासन को भारतीय इतिहास का 'अंधकार युग' माना जाता है। इतिहास की इस समझ में किसी भी मुस्लिम शासक, यहां तक कि अकबर ने भी कोई उल्लेखनीय या स्थायी काम नहीं किया। वे सभी केवल 'लुटेरे' थे और इसलिए उन्हें इतिहास की किताबों से मिटा देना ही बेहतर है।

ब्रिटिश राज के बार में यह काल्पनिक इतिहास विरोधाभासी है क्योंकि इस विचारधारा को मानने वाले लोग स्वतंत्रता संग्राम से पूरी तरह गायब थे। वास्तव में, उन्होंने कई मौकों पर अंग्रेजों का साथ दिया, जैसा कि प्रसिद्ध इतिहासकार सुमित सरकार ने अपने गहन शोध कार्य 'टुवर्ड्स फ्रीडम' में दिखाया है, जिसे तत्कालीन राजग सरकार ने दबा दिया था लेकिन बाद में साल 2009 में प्रकाशित किया गया।

यही वजह है कि रोमिला थापर हिन्दुत्व ब्रिगेड और इतिहासकारों के भेष में घूमने वाले उनके पसंदीदा मिथक-लेखकों को सबसे ज्यादा नापसंद हैं। वे उन्हें इसलिए चुनते हैं क्योंकि वे हिन्दुत्ववादियों को उन्हीं के गढ़ में चुनौती देती हैं। उनकी पहली किताब 'अशोक एंड द डिक्लाइन ऑफ द मौर्याज' (1961) पुरालेखों और पुरातात्विक स्रोतों का उपयोग करके यह दिखाती है कि मौर्य साम्राज्य धर्मनिरपेक्ष था, जो धार्मिक धर्मपरायणता के बजाय राजनीतिक व्यावहारिकता पर आधारित था। वह 'हिन्दू स्वर्ण काल' के मिथक को पूरी तरह खारिज करती हैं। वास्तव में, यह खंडन उनके लेखन में एक मुख्य स्वर की तरह गूंजता है और 'जस्ट बीइंग' में भी इसी बेबाक अंदाज में सुना जा सकता है। उदाहरण के लिए: 'अगर हिन्दुत्व ही हिन्दू धर्म है, तो इसने साबित कर दिया है कि यह किसी भी अन्य धर्म की तरह ही हिंसक और असहिष्णु है' (पृष्ठ 383); 'धार्मिक राष्ट्रवाद इतिहास को तहस-नहस कर रहा है' (पृष्ठ 400); 'हिन्दुत्व कोई धर्म नहीं और यह हिन्दू धर्म भी नहीं है। मैं हिन्दुत्व को 'सिंडिकेटेड हिन्दू धर्म' मानती हूं' (पृष्ठ 212)

रोमिला थापर का मानना है कि हमने अपना इतिहास-अपने महाकाव्यों, अभिलेखों और कल्हण की 12वीं शताब्दी की 'राजतरंगिणी' जैसे उत्कृष्ट कालानुक्रमिक आख्यानों में सुरक्षित रखा है। दूसरे शब्दों में, इतिहास की उनकी कथित रूप से 'हिन्दू-विरोधी', 'यूरोप केन्द्रित' या 'मार्क्सवादी' व्याख्या औपनिवेशिक इतिहासकारों के निष्कर्षों को नहीं दोहराती, जैसा कि सनातनी खेमा करता है जो हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच अंतहीन युद्धों के औपनिवेशिक सिद्धांत को बढ़ावा देता है।

'सोमनाथ' (2004) में भी वह हमें इस ध्रुवीकरण करने वाले हिन्दू-मुस्लिम नैरेटिव पर सवाल उठाने के लिए प्रेरित करती हैं: क्या महमूद गजनवी मुख्य रूप से एक धार्मिक कट्टरपंथी था या एक निर्दयी लुटेरा, जिसने सोमनाथ पर हमले के बाद कंधार में मस्जिद को नष्ट करने में भी संकोच नहीं किया? जिन्होंने रोमिला थापर के खिलाफ फतवे जारी किए, उन्होंने आज तक इस सवाल का जवाब नहीं दिया है।

संस्कृति और सभ्यता के हिन्दुत्ववादी बंटवारे के सख्त खिलाफ, थापर का तर्क है कि 'सभ्यता कोई बंद इकाई नहीं' बल्कि 'एक लचीली स्थिति है, जो कई संस्कृतियों के आपसी मेलजोल से आकार लेती है।' (पृष्ठ 572)। एक इतिहासकार के रूप में उनका यह नजरिया उनके पसंदीदा कवि टी.एस. एलियट की 1920 की कविता 'गेरोंशन' की इन पंक्तियों की याद दिलाता है:

इतने ज्ञान के बाद, फिर कैसी क्षमा? अब करो विचार
इतिहास के पास कई चालाक रास्ते, गढ़े हुए गलियारे हैं
और वह दबी महत्वाकांक्षाओं से भरमाता है, धोखा देता है।
हमें हमारे ही दंभ की उंगली पकड़ राह दिखाता है। ■

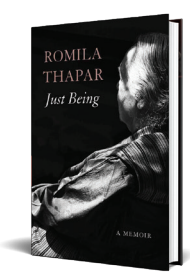

पाठ्यपुस्तकें इतिहास या किसी भी ज्ञान की प्रचारित व्याख्या को दुरुस्त करने के लिए बेहद अहम होती हैं। धार्मिक राष्ट्रवाद इतिहास के साथ खिलवाड़ करता है। अगर हिन्दुत्व ही हिन्दू धर्म है, तो इसने साबित कर दिया है कि यह किसी भी अन्य धर्म की तरह ही हिंसक और असहिष्णु है

राम की धरती पर असुरी वृत्तियां

पूर्णिमा एस. त्रिपाठी

19 जून को नृपेंद्र मिश्रा ने एक चौंकाने वाली बात कही। कई टीवी चैनलों पर दिखाए गए इंटरव्यू में से एक में, श्री राम जन्मभूमि तीर्थ क्षेत्र के ट्रस्टी बोर्ड के सदस्य, मंदिर निर्माण समिति के चेयरमैन और प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी के पूर्व प्रधान सचिव नृपेंद्र मिश्रा ने अयोध्या राम मंदिर के लिए मिले दान के पैसे की चोरी को 'खुला डाका' (दिन-दहाड़े डकैती) कहा। जाहिर है, इससे संघ परिवार में बेचैनी होनी ही थी।

लेकिन ऐसा लगता है कि 'परिवार' में हर कोई उस डैमेज कंट्रोल की कोशिश में बराबर दिलचस्पी नहीं ले रहा है, जो बड़े पैमाने पर हुई हेराफेरी (कुछ रिपोर्टों के अनुसार कई करोड़ रुपये की) और फिर मिश्रा के इंटरव्यू के बाद शुरू हुई है।

हालांकि, 'श्री राम जन्मभूमि तीर्थ क्षेत्र ट्रस्ट' का गठन सरकार ने 2019 में श्री राम मंदिर मामले पर सुप्रीम कोर्ट के फैसले के बाद किया, लेकिन ट्रस्ट के कई सदस्य 'संघ परिवार' से जुड़े हैं और उसके प्रति उनकी निष्ठा असंदिग्ध है। देश-विदेश के भक्तों के दान से लगभग 2,000 करोड़ रुपये की अनुमानित लागत से बने इस मंदिर ने पूरे इकोसिस्टम में जबरदस्त उत्साह पैदा किया- चाहे वह भाजपा हो, राम जन्मभूमि आंदोलन की अगुवाई करने वाला आक्रामक विश्व हिन्दू परिषद, 'प्राण प्रतिष्ठा' समारोह (22 जनवरी 2024) के दौरान मुख्य भूमिका निभाने वाला राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ (सबकी मातृ संस्था) और निश्चित रूप से बड़ी संख्या में आस्थावान हिन्दू हों। मुख्यधारा का मीडिया भी इस घटना को लेकर काफी उत्साहित रहा, जिसकी बड़ी-बड़ी सुर्खियों में इसे एक सांस्कृतिक और सभ्यतागत जीत का गौरवशाली पल बताया जा रहा था।

मीडिया में मची धूम और सरकार के जबरदस्त प्रचार-प्रसार के कारण, हैरानी नहीं कि मंदिर को इस कदर ध्यानाकर्षण और दान दोनों मिले हैं। इसने मंदिर के कामकाज की जिम्मेदारी संभालने वाले कुछ लोगों की ईमानदारी की असल परीक्षा भी ली है। यह सोचना भी गलत होगा कि मामला सिर्फ स्पेशल इन्वेस्टिगेशन टीम (एसआईटी) द्वारा गिरफ्तार किए गए आठ लोगों तक ही सीमित है। हिरासत में लिए गए लोगों में रामशंकर यादव उर्फ टिन्नू यादव शामिल हैं, जो ट्रस्ट के महासचिव चंपत राय के ड्राइवर और करीबी सहयोगी रहे और जिनके पास मंदिर के कैश-गिनने वाले कमरे की चाबियां थीं; टिन्नू यादव के भतीजे मनीष यादव, जो मंदिर के कैश-गिनने वाले विभाग में तैनात थे; और पूर्व ट्रस्टी अनिल मिश्रा के रिश्तेदार अनुकल्प मिश्रा और लवकुश मिश्रा, जो दोनों रोजाना पैसे गिनने की प्रक्रिया में शामिल थे।

खबरों के मुताबिक, जनवरी 2025 में महाकुंभ के दौरान दान में भारी बढ़ोतरी हुई और 13 दिसंबर 2025 को हुई कार्यकारी समिति की बैठक में ट्रस्ट ने बताया कि उसे 30 नवंबर 2025 तक दान और अन्य स्रोतों से कुल 4,575 करोड़ रुपये की राशि मिली है।

जून 2026 के प्रथम सप्ताह में कुछ अंदरूनी व्हिसलब्लोअर्स ने दान में मिली चीजों की व्यवस्थित और लगातार चल रही लूट का खुलासा किया। लेखा-जोखा में गड़बड़ियों की शिकायत करने पर 2021 में ट्रस्ट से निष्कासित कर दिए एक लेखाकार ने बताया कि ट्रस्ट में दान में मिले सोने, चांदी और गहनों का हिसाब-किताब नहीं रखा जाता था। इसके बाद सिंधी समाज के एक समूह ने आगे आकर दावा किया कि उनके द्वारा दान में दी गई चांदी की 200 ईंटों की रसीद बार-बार मांगने के बावजूद उन्हें कभी नहीं मिली। इन खुलासों से मिली हिम्मत का असर रहा, कि नेपाल के जनकपुर स्थित जानकी मंदिर के मुख्य पुजारी ने भी कहा कि उन्हें आज तक नहीं पता कि मंदिर की ओर से ट्रस्ट को दान की गई कीमती धातुओं का क्या हुआ।

समझ से परे है कि इतनी कड़ी सुरक्षा- जिसमें लगभग 1,600 सीसीटीवी कैमरों से निगरानी और स्टेट बैंक ऑफ इंडिया को सौंपी गई कैश डोनेशन की गिनती भी शामिल थी, के बावजूद इतने लंबे समय तक गबन का यह खेल कैसे चलता रहा। ट्रस्ट के महासचिव चंपत राय ने शुरू में इस 'चोरी' को मामूली बताने की कोशिश की, लेकिन जब मामला हाथ से निकलने लगा तो उन्होंने इस्तीफा दे दिया (इस्तीफे पर अभी कोई फैसला नहीं हुआ है)। ट्रस्ट को मजबूरी में ही सही, पुलिस की मदद से कुछ कर्मचारियों के घरों से 80 लाख रुपये बरामद किए जाने की बात स्वीकारनी पड़ी। इसके बावजूद कोई एफआईआर दर्ज नहीं कराई गई, लेकिन ट्रस्ट के अनुरोध पर उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री योगी आदित्यनाथ द्वारा बनाई गई स्पेशल इन्वेस्टिगेशन टीम (एसआईटी) अपनी एक अंतरिम रिपोर्ट दाखिल कर चुकी है।

लखनऊ में सूत्रों के अनुसार, एसआईटी की शुरुआती रिपोर्ट में धोखाधड़ी की राशि 200 करोड़ रुपये से ज्यादा बताई गई है। इस बात की संभावना बहुत कम है कि इतने बड़े पैमाने पर हुई धोखाधड़ी पर ट्रस्ट के वरिष्ठ सदस्यों और यहां तक कि प्रधानमंत्री कार्यालय की नजर न पड़ी हो, क्योंकि मंदिर के निर्माण और ट्रस्ट के प्रबंधन में पीएमओ काफी सक्रिय रहा है। इन बातों और प्रधानमंत्री के साथ नृपेंद्र मिश्रा की नजदीकी को देखते हुए, यह मानना भी मुश्किल है कि उन्हें इस गड़बड़ी के बारे में कोई जानकारी या भनक तक नहीं लगी होगी। कागजों पर मिश्रा भले ही निर्माण समिति के चेयरमैन हैं, लेकिन राजनीतिक जानकार मानते हैं कि उनके 'पद नाम' से उनके प्रभाव का सही अंदाजा नहीं लगाया जा सकता। कोषाध्यक्ष गोविंद गिरी और पूर्व ट्रस्टी अनिल मिश्रा की भूमिका को लेकर भी काफी अटकलें हैं। हालांकि चंपत राय और अनिल मिश्रा ने अपने पदों से इस्तीफा दे दिया है, लेकिन उनके भविष्य पर अंतिम फैसला रविवार, 5 जुलाई को ट्रस्ट की बैठक में होने की उम्मीद है।

सिंधी समुदाय के सदस्यों का कहना है कि उन्हें राम मंदिर प्रोजेक्ट के लिए दान की गई चांदी की 200 ईंटों की रसीद नहीं मिली

शक करने वालों को संदेह है कि क्या इस घोटाले की पूरी सच्चाई कभी सामने आ पाएगी, पैसे का लेन-देन पता चल पाएगा और क्या बड़े दोषियों को सज़ा मिल पाएगी

*

घोटाला जिस समय सामने आया, वह भाजपा के लिए ठीक नहीं हैं। उत्तर प्रदेश में विधानसभा चुनाव अगले साल की शुरुआत में होने हैं, ऐसे में विपक्ष को इसे चुनावी मुद्दा बनाने का बड़ा मौका मिल गया है। भाजपा के नजरिये से देखें तो इस राजनीतिक संकट को जल्द से जल्द सुलझाना जरूरी है, और मौजूदा हालात में लगता है कि इस मुश्किल घड़ी से निपटने की जिम्मेदारी योगी आदित्यनाथ पर आ गई है।

दिल्ली में मौजूद भाजपा की शीर्ष जोड़ी उन्हें पसंद नहीं करती, फिर भी यह एक रहस्य है कि ट्रस्ट ने जांच की अगुवाई के लिए उनसे ही संपर्क क्यों साधा। मंदिर निर्माण में योगी की कोई भूमिका नहीं थी और 'प्राण प्रतिष्ठा' के भव्य आयोजन में भी जाहिर तौर पर उनकी भूमिका नाममात्र की थी। अयोध्या में मंदिर आंदोलन पर नजर रखने वाले कई लोग मानते हैं कि योगी इस मौके का इस्तेमाल हिसाब-किताब बराबर करने या दिल्ली की जोड़ी के साथ चल रही खींचतान में इस घोटाले का फायदा उठाने के लिए करेंगे।

लखनऊ में वरिष्ठ पत्रकार और बीबीसी के पूर्व संवाददाता राम दत्त त्रिपाठी कहते हैं, "चूंकि मंदिर सीधे पीएमओ और आरएसएस की देखरेख में था, इसलिए अगर योगी को गड़बड़ी के बारे में पता भी होता, तो भी वे पहले ज्यादा कुछ नहीं कर सकते थे। लेकिन अब जब यह घोटाला सबके सामने आ चुका है, तो पीएमओ और आरएसएस चाहते हैं कि योगी इस गड़बड़ी को संभालें।"

त्रिपाठी कहते हैं, "योगी जिस गोरखपुर मठ के प्रमुख हैं, वह 1949 से ही राम मंदिर आंदोलन में सबसे आगे रहा है, लेकिन जब राम मंदिर ट्रस्ट बनाया गया तो उन्हें पूरी तरह नजरअंदाज कर दिया गया। 'प्राण प्रतिष्ठा' के दौरान योगी बस अपनी मौजूदगी दर्ज करा रहे थे। अब वे इसका हिसाब-किताब बराबर करेंगे।" अयोध्या से प्रकाशित अखबार 'जन मोर्चा' की संपादक सुमन गुप्ता का मानना है कि अब मामले को दबाना मुमकिन नहीं है। वह कहती हैं, "ट्रस्ट पर बाहरी लोगों के कब्जे को लेकर स्थानीय लोगों में पहले से ही काफी नाराजगी थी। जैसे-जैसे इंफ्रास्ट्रक्चर का विकास हुआ और जमीन की कीमतें बढ़ीं, स्थानीय लोगों को फिर लगने लगा कि वे बाहरी लोगों के मुकाबले पिछड़ रहे हैं।"

सवाल उठाने वालों को संदेह है कि क्या इस घोटाले की पूरी सच्चाई कभी सामने भी आ पाएगी? क्या पैसे के लेन-देन का वाकई पता चल पाएगा और रसूखदारों (दोषियों) को सजा मिल पाएगी। कुछ लोगों का मानना है कि इस घोटाले से पीएमओ को मंदिर के कामकाज के प्रबंधन पर अपनी पकड़ और मज़बूत करने का बहाना मिल गया है। वे पूछते हैं कि आखिर नृपेंद्र मिश्रा ने ट्रस्ट के रोजमर्रा के कामकाज को संभालने के लिए एक 'प्रोफेशनल सीईओ' की नियुक्ति का सुझाव क्यों दिया? क्या वह अपने आका की ही बात नहीं दोहरा रहे हैं?

संघ के पदाधिकारी निजी बातचीत में मानते हैं कि इस घोटाले ने लाखों लोगों का भरोसा तोड़ा है और संघ की छवि को नुकसान पहुंचाया है। लेकिन इस सवाल के प्रति, कि क्या भाजपा को इसकी राजनीतिक कीमत चुकानी पड़ेगी, उदासीनता जताते हैं। आम राय यही लगती है कि 'लोग माफ कर देंगे और भूल जाएंगे'। ■

लोकतंत्र को तबाह कर रहे हैं मोदी

राहुल लगातार बहुसंख्यकवाद को चुनौती देते हैं और संवैधानिक मूल्यों के प्रति प्रतिबद्ध रहते हैं

अशोक स्वैन

समकालीन भारतीय राजनीति की चंद सबसे बड़ी खासियतों में नरेन्द्र मोदी की सत्ता और हिन्दुत्व परियोजना का सुदृढ़ीकरण ही नहीं है, बल्कि भारत के उदारवादियों और बुद्धिजीवियों के एक बड़े वर्ग की वह निरंतर असमर्थता भी है जिसके कारण वे समझ नहीं पा रहे हैं कि कौन लगातार इसके खिलाफ खड़ा रहा है।

भले ही मोदी सरकार ने लगातार लोकतांत्रिक संस्थाओं और संवैधानिक सुरक्षा उपायों को कमजोर किया है, बहुसंख्यकवादी राजनीति को सामान्य बना दिया है और भारत की धर्मनिरपेक्ष बुनियाद को कमजोर किया है, देश के स्वघोषित उदारवादी बुद्धिजीवियों में तमाम लोग इस बदलाव के जिम्मेदारों पर नहीं, बल्कि राहुल गांधी पर निशाना साधे रहते हैं। यह अजीबोगरीब जुनून राहुल गांधी के बारे में कम, और भारत के उदारवादी वर्ग के बौद्धिक और राजनीतिक अंतर्विरोधों के बारे में अधिक बताता है।

एक दशक से अधिक समय से, राहुल गांधी हिन्दुत्व के वैचारिक आधार को चुनौती देने के लिए हमेशा तैयार रहने वाले बेहद गिने-चुने राष्ट्रीय राजनीतिक नेताओं में से एक रहे हैं। उन्होंने बार-बार संवैधानिक मूल्यों, अल्पसंख्यक अधिकारों, सामाजिक न्याय, जातिगत असमानताओं, संस्थागत स्वतंत्रता और लोकतांत्रिक जवाबदेही की बात की है। उन्होंने निरंतर मीडिया खलनायकी, सरकारी उत्पीड़न, कानूनी मुकदमों और व्यक्तिगत हमलों को झेला है। इसके बावजूद बहुलवाद और संवैधानिक लोकतंत्र में निहित राजनीतिक दृष्टिकोण को व्यक्त करना जारी रखा है।

'भारत जोड़ो यात्रा' और 'भारत जोड़ो न्याय यात्रा' केवल राजनीतिक अभियान नहीं थे। वे हाल के दशकों में किसी भी भारतीय राजनेता द्वारा नफरत और ध्रुवीकरण की राजनीति का सीधे मुकाबला करते हुए लोकतांत्रिक राजनीति को आम नागरिकों की चिंताओं से फिर से जोड़ने के लगातार किए जाने वाले शायद सबसे बड़े प्रयास थे। फिर भी तमाम उदारवादी और बुद्धिजीवी उन्हें मोदी को हराने में मुख्य बाधा के रूप में चित्रित कर रहे हैं। क्यों? इसका जवाब काफी हद तक इतिहास में छिपा है।

1970 के दशक से, कांग्रेस-विरोधी होना भारत के बौद्धिक हलकों के एक बड़े हिस्से के भीतर लगभग एक सांस्कृतिक पहचान बन गया है। कांग्रेस का विरोध कभी आपातकाल और केन्द्रीकृत सत्ता के प्रतिरोध से जुड़ा था। समय के साथ, हालांकि, कांग्रेस-विरोध एक राजनीतिक रुख से बदलकर एक बौद्धिक आदत बन गया। कांग्रेस को सभी राजनीतिक समस्याओं की जड़ के रूप में देखा जाने लगा, जबकि हर क्षेत्रीय चुनौती देने वाले को एक संभावित तारणहार के रूप में सराहा गया।

त्रासदी यह है कि जो लोग उदारवादी लोकतंत्र की रक्षा का दावा करते हैं, उन्होंने इसे तबाह करने वालों का सामना करने के बजाय इसके सबसे मुखर रक्षकों में से एक पर ही हमला करने में ज्यादा समय बिताया है

गांधी परिवार के जुड़ाव के कारण यह रवैया और भी अधिक मुखर हो गया। वंशवादी राजनीति का विरोध एक ऐसा सुविधाजनक शॉर्टहैंड बन गया जिसके जरिये कई बुद्धिजीवियों ने राहुल गांधी के राजनीतिक रुख पर गंभीरता से विचार किए बिना उन्हें खारिज कर दिया। विडंबना यह है कि इन्हीं में से कई आलोचकों को पूरे भारत में शक्तिशाली राजनीतिक परिवारों के प्रभुत्व वाली क्षेत्रीय पार्टियों का समर्थन करने में कोई कठिनाई नहीं हुई। यहां तक कि भाजपा के भी कई वरिष्ठ नेता राजनीतिक वंशों से आते हैं। वंशवाद को केवल तभी एक अक्षम्य पाप माना गया जब इसमें कांग्रेस शामिल थी।

सालों तक, उदारवादी टिप्पणीकारों ने उत्साहपूर्वक वैकल्पिक विपक्षी नेताओं को राहुल गांधी से बेहतर विकल्पों के रूप में बढ़ावा दिया। नीतीश कुमार को उनके राजनीतिक अवसरवाद के लंबे रिकॉर्ड और जब भी उनके हितों के अनुकूल हो भाजपा के साथ गठबंधन करने की उनकी इच्छा के बावजूद, बार-बार मोदी-विरोधी आदर्श नेता के रूप में पेश किया गया। ममता बनर्जी को, धार्मिक बहुसंख्यक समाज की भावनाओं के साथ तालमेल बिठाने की उनकी कोशिशों और एक मजबूत विपक्षी एकता तैयार करने में उनकी अनिच्छा के बावजूद, एक राष्ट्रीय विकल्प के रूप में सिर-माथे रखा। अरविंद केजरीवाल को भारतीय राजनीति के भविष्य के रूप में सराहा गया, भले ही उनका आंदोलन तेजी से चुनिंदा राष्ट्रवाद को अपना रहा था और अक्सर हिन्दुत्व ताकतों के साथ सहयोग करता था।

इनमें से किसी भी नेता ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की परियोजना के वैचारिक मूल को लगातार चुनौती नहीं दी। किसी ने भी संवैधानिक मूल्यों पर आधारित देशव्यापी लोकतांत्रिक विकल्प बनाने की मांग नहीं की। किसी ने भी देश भर में बहुसंख्यकवाद का सामना करने के लिए निरंतर प्रतिबद्धता नहीं दिखाई। फिर भी कई बुद्धिजीवियों ने राहुल गांधी को राजनीतिक रूप से अप्रासंगिक बताते हुए उन्हें खारिज करने और दूसरों को बढ़ावा देने में भारी ऊर्जा लगाई।

आज का रिकॉर्ड खुद गवाही देता है। वफादारी में बार-बार बदलाव के बाद नीतीश कुमार की राजनीतिक विश्वसनीयता काफी हद तक खत्म हो चुकी है। अरविंद केजरीवाल के राजनीतिक प्रोजेक्ट को गंभीर झटके लगे हैं और यह भौगोलिक रूप से संकुचित हो गया है।

जबकि इसी दौरान राहुल गांधी राष्ट्रीय स्तर पर विपक्षी राजनीति का निर्विवाद चेहरा बन गए। उनके नेतृत्व में कांग्रेस ने 2024 में अपनी संसदीय स्थिति में उल्लेखनीय सुधार किया, मुख्य विपक्षी दल का दर्जा वापस पाया और खुद को उस केन्द्रीय ध्रुव के रूप में स्थापित किया जिसके इर्द-गिर्द भाजपा-विरोधी राजनीति तेजी से घूम रही है। फिर भी इस वास्तविकता को स्वीकार करने के बजाय, कई उदारवादी उन पर दोष मढ़ने के कारण ढूंढना जारी रखे हुए हैं।

इसका कारण भारत के बौद्धिक अभिजात वर्ग के सामाजिक ताने-बाने में भी हो सकता है। एक महत्वपूर्ण हिस्सा विशेषाधिकार प्राप्त उच्च जाति की पृष्ठभूमि से आता है। हालांकि वे अक्सर अमूर्त रूप में उदारवादी मूल्यों का समर्थन करते हैं, लेकिन जब राजनीति प्रक्रियात्मक लोकतंत्र से आगे बढ़कर सामाजिक और आर्थिक न्याय के सवालों की ओर बढ़ती है, तो वे स्पष्ट रूप से असहज हो जाते हैं।

जाति जनगणना, धन का कुछ हाथों में सिमटना, असमानता, सकारात्मक कार्रवाई (आरक्षण) और प्रतिनिधित्व पर राहुल गांधी का जोर विशेषाधिकारों के स्थापित ढांचों को चुनौती देता है। उनकी राजनीति तेजी से संवैधानिक लोकतंत्र को गहरी सामाजिक परिवर्तन की मांगों के साथ जोड़ रही है। कई संभ्रांत उदारवादियों के लिए, यह एजेंडा संस्थागत सुधार या आर्थिक विकास के बारे में चर्चाओं की तुलना में कहीं कम सुविधाजनक है।

वास्तव में, भारत के उदारवादी तंत्र का एक बड़ा हिस्सा हमेशा से पुनर्वितरण, गरीबी उन्मूलन या संरचनात्मक समानता की तुलना में बाजार-संचालित विकास के प्रति अधिक प्रतिबद्ध रहा है। वे हिन्दुत्व की ज्यादतियों की आसानी से आलोचना करते हैं लेकिन उस राजनीति से असहज रहते हैं जो जाति और वर्ग के मौजूदा पदानुक्रम को बदलना चाहती है। इसलिए सामाजिक न्याय पर राहुल गांधी के हालिया ध्यान ने उनके और उदारवादी बुद्धिजीवियों के कुछ वर्गों के बीच तनाव का एक नया स्रोत पैदा कर दिया है।

दूसरा कारण कई टिप्पणीकारों के बीच चुनावी राजनीति की सीमित समझ है। ज्यादातर बुद्धिजीवियों ने कभी कोई राजनीतिक अभियान आयोजित नहीं किया, पार्टी का ढांचा नहीं बनाया, मतदाताओं को लामबंद नहीं किया या कोई चुनाव नहीं लड़ा। राजनीति की उनकी समझ अक्सर मीडिया नैरेटिव और शहरी बातचीत के माध्यम से आकार लेती है। वे विचारों, संस्थाओं और लोकतांत्रिक मानदंडों पर व्यापक संघर्ष की अनदेखी करते हुए चुनावों को राजनीतिक सफलता के एकमात्र पैमाने के रूप में देखते हैं।

यह संकीर्ण दृष्टिकोण राजनीतिक नेतृत्व का एक विकृत मूल्यांकन पैदा करता है। नेताओं को जन विमर्श को आकार देने, संवैधानिक मूल्यों की रक्षा करने या अधिनायकवाद का विरोध करने में उनकी भूमिका के बजाय मुख्य रूप से तत्काल चुनावी परिणामों से आंका जाता है।

अगर केवल चुनावी जीत ही राजनीतिक योग्यता को परिभाषित करती है, तो हारने वाला हर विपक्षी नेता अप्रासंगिक हो जाता है। ऐसा तर्क लोकतंत्र को वोटों की प्रतिस्पर्धा तक सीमित कर देता है और बहुसंख्यकवादी शासन के खतरों की अनदेखी करता है। चुनाव अत्यंत महत्वपूर्ण हैं, लेकिन लोकतंत्र चुनावों से कहीं बढ़कर है। इसके लिए संवैधानिक मर्यादाओं, अल्पसंख्यक संरक्षण, संस्थागत स्वतंत्रता और बहुलवाद के प्रति प्रतिबद्धता की आवश्यकता होती है। राहुल गांधी का राजनीतिक महत्व इसी बात में है कि उन्होंने इन सिद्धांतों को छोड़ने से इनकार कर दिया, भले ही ऐसा करने से अल्पकालिक चुनावी लाभ मिल सकता था।

इतिहास अंततः समकालीन टिप्पणीकारों की तुलना में उनके प्रति अधिक दयालु न्याय करेगा। जब अन्य लोग बहुसंख्यकवाद के साथ रणनीतिक समझौतों की तलाश में रहते हैं, तो वह लगातार इसे चुनौती देते हैं। जब अन्य लोग राजनीतिक सुविधा के अनुसार रुख बदलते हैं, तो वह संवैधानिक मूल्यों के प्रति स्पष्ट प्रतिबद्धता बनाए रखते हैं। जिन्हें कभी मोदी के जवाब के रूप में सराहा गया था, उनमें से कई अब दूर जा चुके हैं, लेकिन राहुल गांधी हार का सामना करते हुए भी इस लड़ाई के प्रति प्रतिबद्ध रहे हैं।

जैसे-जैसे भारत में लोकतांत्रिक असहमति के लिए जगह सिकुड़ती जा रही है, यह अंतर्विरोध ऐसा हो गया है जिसे नजरअंदाज करना मुश्किल होता जा रहा है। ■

अशोक स्वैन स्वीडन की उप्सला यूनिवर्सिटी में पीस एंड कॉन्फ्लिक्ट रिसर्च के प्रोफेसर हैं। साभार: thewire.in

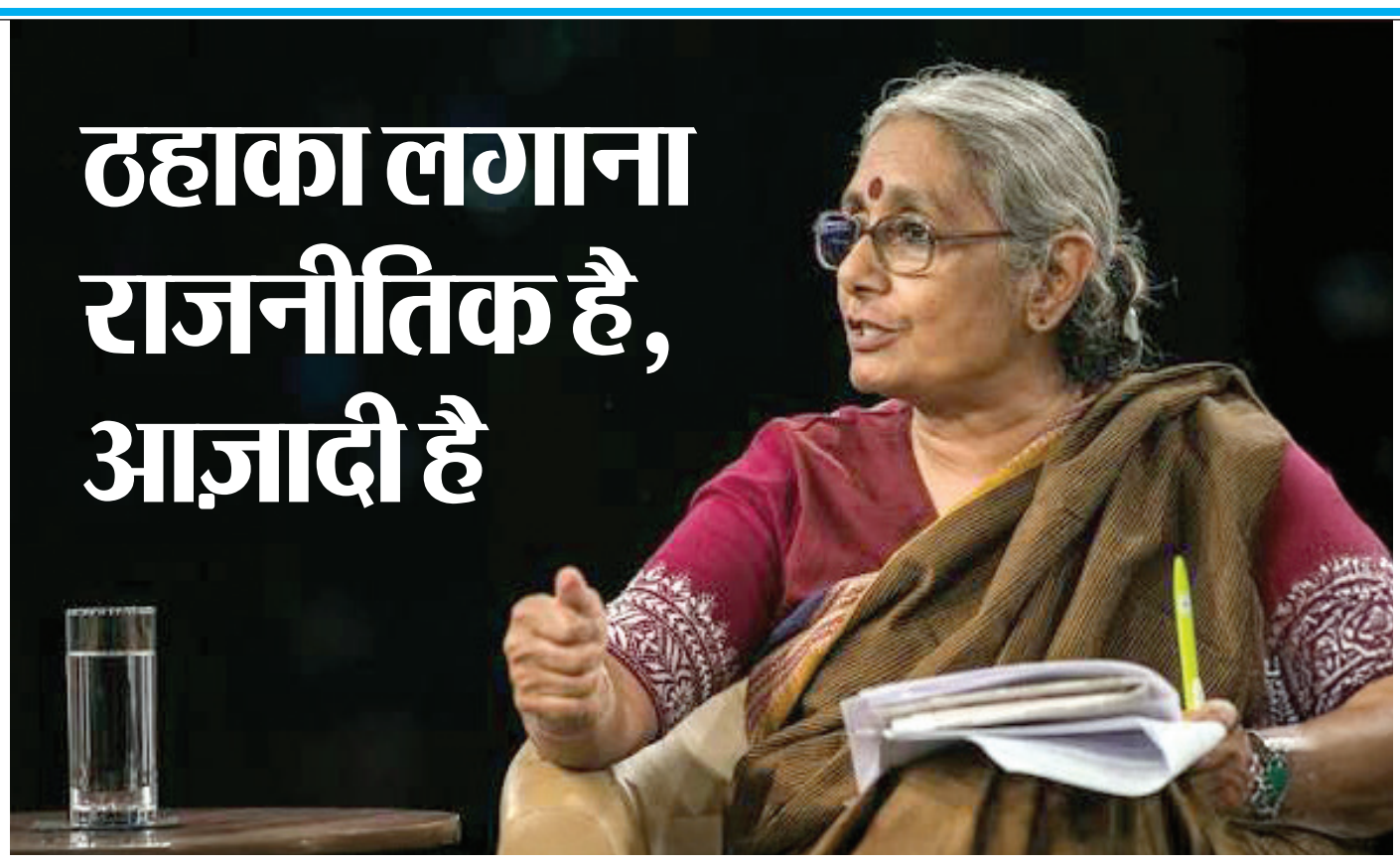

ठहाका लगाना राजनीतिक है, आज़ादी है

मीनाक्षी नटराजन

कई वाक्य, शब्द बहुत दिनों तक नए-नए मायने देते रहते हैं। जैसे किसी पत्ते से बूंदें टपकती रहती हैं। ऐसा ही एक वाक्य मेरी जिंदगी में आया और वह आज तक हर दिन ज़ेहन में दस्तक देता रहता है। "पर्सनल इस पोलिटिकल"के वाक्य बीज से हर पल कुछ नई कोंपल फूटती हैं।

स्त्री को सिखाया गया है कि उसका निजी कुछ नहीं होता। उसका धर्म है कि वह निज को सबके लिए होम कर दे। उसकी जिंदगी भूमिकाओं में बंटी है- मां, बेटी, बहू, पत्नी, बहन, भाभी। वह कोई पेशा अपनाए, तो भी उससे यह उम्मीद है कि वह अपनी सामाजिक-पारिवारिक भूमिका भी बखूबी निभाए, जबकि पुरुष के लिए ऐसी कोई शर्त नहीं है।

फिर जब भी उसे किसी घरेलू प्रताड़ना का सामना करना पड़ता है, कहा जाता है कि व्यक्तिगत मामले में किसी को दखल देने की इजाजत नहीं। तब वह दो ध्रुवों के बीच झूलती है। निजी कुछ नहीं होता या व्यक्तिगत मामला है, तो वह बस चुपचाप तिरस्कार सहन करे। यह अलग बात है कि दोनों स्थिति गंभीर रूप से राजनीतिक है। यह स्थिति वर्चस्व को संस्कार का लिबास ओढ़ाकर दमन को सामान्य बनाती है।

पर बात इतनी सरल नहीं। निजी और निजता के कई मायने हैं। निजता क्या होती है? उसका कोई अलग अस्तित्व भी है या नहीं। वह कितनी समिष्टि में घुली है और कितनी जुदा है। बाहर भीतर कब एक होते हैं और कब विलग। किस संदर्भ में वे अलग होंगे और कब एक दिखाई पड़ते हैं? राजनीति की अभ्यर्थी होने के नाते यह सवाल अक्सर आ खड़े होते हैं। किसी भी संवाद में अचानक वह निजता जागती है। बात भले ही पूरी व्यवस्था पर हो रही हो, मगर अहम को ठेस पहुंचती है। यदि सामाजिक भेद की चर्चा हो रही हो, तब सहसा बहुत से साथी बोल पड़ते है किहमारे यहां ऐसा नहीं होता, हम ऐसा नहीं करते, मेरे घर में कभी नहीं हुआ। किसी तरह के भी भेद को नहीं मानने की बात करने वाले, सही में ऐसा समझते हैं कि वे नहीं मानते, नहीं मानना चाहते। पर भेद के सवाल उठाते ही पता नहीं उनके भीतर पहचान की कौन-सी परत खुल जाती है। वह प्रतिक्रिया करती है। उसे भेद की चर्चा खुद पर किए गए प्रहार-सा लगता है। ऐसे में निजी क्या होता है।

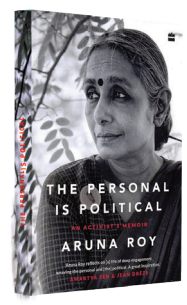

सबमें मैं, मुझमें, सब की सोच ने हकीकत को सामने किया। यह हक की राजनीति का आधार है। सत्याग्रह इसी समझ की राजनीति का अभ्यास है। यहां 'व्यक्तिगत' राजनीतिक है, मगर नितांत निजी कुछ भी नहीं

वह क्या है जो चुभती है। क्यों चुभती है। निजी क्या कुछ अखंड होता है या फिर उसकी भी कई परतें हैं। एक ही के भीतर कितनी तरह की निजताएं हैं? वे सब जो उसके व्यक्तित्व को गढ़ती हैं।

हर बार कोई नई तरह की निजता बोल पड़ती है, प्रतिक्रिया करती हैं। निजता की हर परत से उपजती प्रतिक्रिया या अभिमत राजनीतिक है। सामाजिकता से अलग खुद को समझना नितांत गैर राजनीतिक है। ऐसी अराजनीतिकता जो अपनी सुविधा या विशिष्टता से हमें अनभिज्ञ रखती है। अपनी योग्यता की बदौलत स्थापित होने की खुशफहमी इस अराजनीतिकता की परिणति है। यह एक ऐसे अहम को तुष्ट करती है जहां समुदाय, व्यवस्था आदि गौण लगते हैं। यह सुविधाजनक नजर अपने आप में राजनीति है, प्राधान्य की राजनीति।

यह भी समझ बनती है कि कोई आजाद 'निज' नहीं है। समाज व्यवस्था की बनावट निजता के बीज बोती जाती है। विरले ही कोई निजी रोशनाई सब कुछ बदलती है, पर उसमें भी सही में कितना ही 'निज' का अंश था, कहना मुश्किल है। क्या हम सब के भीतर पूरी सृष्टि, उसकी तमाम सूक्ष्मता के साथ, अंतर्विरोध से भरी हुई विचार व्यवस्था मौजूद नहीं!

'मेरा' कुछ है 'मैं' कौन हूं। केवल दार्शनिक प्रश्न के बतौर नहीं। विज्ञान कहता है कि मेरे भीतर आधे अणु तो बाहरी हैं, किसी सूक्ष्मजीवी के हैं। कई बार जो मैं खाना चाहती हूं, वह उनकी मांग है। माता-पिता से मिले अणु की मांग नहीं। तो इन दोनों अणुओं में मैं किसे तरजीह दूं? इनमें से मैं कौन हूं। क्या सिर्फ आधा अणुओं का हिस्सा या संपूर्ण? संपूर्ण के बिना तो मैं सांस भी नहीं ले सकती। तो फिर बाहरी-भीतरी तो कुछ नहीं बचा। सीमा बना नहीं सकते। सरहद है और आदान-प्रदान चालू है। तो बिना निर्भर मेरा कोई अस्तित्व ही कहां है? परस्पर जुड़ा होने पर ही तो 'मैं' हूं। मुझे यह सोच बहुत आजाद करती है। यानी अकेले मेरी कोई मुक्ति नहीं हो सकती है। किसी दूर जंगल में जाकर रूह की रिहाई नहीं होगी। सबको रोटी मिलेगी, तो मुझे भी मिलेगी। मुझ भर को मिलती रहे तो जरूरी नहीं की सबको मिले। हो सकता है कि मुझे न मिलने पर फिर कोई खड़ा न हो। तो मेरी भी बंद हो सकती है। सबमें मैं, मुझमें में सब की सोच ने हकीकत को सामने किया। यह हक की राजनीति का आधार है। सत्याग्रह इसी समझ की राजनीति का अभ्यास है। यहां 'व्यक्तिगत' राजनीतिक है, मगर नितांत निजी कुछ भी नहीं।

हर निजता के भाव से कोई राजनीति तो निकलती है। वह माध्यम को मंजिल से जुदा नहीं मानती।

अपने हर चुनाव में मैंने तय किया कि माध्यम क्या होगा। नैतिक सोपान के किस पायदान तक उतरना मैं कुबूल करूंगी। यह निजी व्यक्तिगत फैसला राजनीति से अलग नहीं हो सकता। कई बार यह माना जाता है कि व्यक्तिगत नैतिकता और सामाजिक नैतिकता अलग होती हैं। निजी जीवन की पारदर्शिता संभव है, पर उसे सामाजिकता से अलग रखना चाहिए। मगर निजी सिर्फ निज नहीं होता। वह राजनीतिक होता है। कई तरह के गठबंधन के लिए मजबूर करता है। इनके मायने बदलते हैं। यह राजनीति के फैसलों को प्रभावित करती हैं। उसे निजी संबंध कहकर खारिज नहीं कर सकते।

इन तमाम ख्यालों में आखिरी उधेड़बुन यह भी है कि आखिर निज पर किसकी हुकूमत होती हैं। बहुत-सी बाह्य अधिनायकत्व के अधीन हो सकती है। कई पिंजड़ों में कैद हो सकती है। सब बाह्य उतर भी गया, तो क्या उसके बाद निज आजाद हो जाता है? अपने क्षणिक मनोभाव, अहम, भय, असुरक्षा कामना की गुलामी निज को बांध सकती है। इससे बंधा व्यक्ति राजनीतिक स्वराज के लिए कैसे लड़ पाएगा। उससे मुक्ति को एक ने अपनी राजनीति बनाया था। वह राजनीति को उसी का माध्यम मानता था।

अभी खुद तो उस स्थिति तक पहुंचना सरल नहीं लगता। मगर उस सत्यान्वेषी पर यकीन है। सो राजनीति में अपने भीतर के तमाम निजताओं, असुरक्षा भय को खंगालने के माध्यम के रूप में जरूर देखती हूं। बिना निराश हुए रोज अपनी हर नई झांकती कमजोरी पर ठहाका लगाती हूं। ठहाका लगाना कुछ दिनों पहले सीखा। वरना तो खड़ूसी में मर जाती। यह ब्रह्मज्ञान पाया कि हंसने के पैसे नहीं लगते। पर अच्छी लड़कियां हंसती नहीं। द्रौपदी हंसी, तो फंसी। समाज ने जो सिखाया था, निज ने कब अंगीकार किया, बिना बताए व्यक्तित्व बन गया। उसको सक्रिय होकर तोड़ा। यह ठहाका लगाना राजनीतिक है। व्यक्तिगत है, निजी और जग सारी है, आजादी है।

"पर्सनल इज पोलिटिकल" कहने वाली अरुणा अस्सी की हो गईं। उम्र हो गई होगी। पर यह वाक्य उम्रदराज नहीं होगा। हर बार नए मायनों को जन्म देगा।

अरुणा! तुम बुड्ढी हो, न हो। यह वाक्य बूढ़ा नहीं होने का। ■

नफ़रत के दौर में जरूरी सांस्कृतिक हस्तक्षेप

'दरवाज़े खोल दो' सांप्रदायिकता, अविश्वास, वर्गीय असमानता और मानसिक संकीर्णता के विरुद्ध गंभीर जरूरी आवाज है

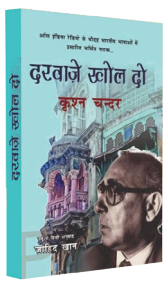

दरवाज़े खोल दो
लेखक — कृश्न चन्दर
उर्दू से हिन्दी अनुवाद — ज़ाहिद खान
प्रकाशक — एशिया पब्लिशर

शैलेन्द्र चौहान

उर्दू साहित्य में कृश्न चन्दर का नाम केवल एक लोकप्रिय कथाकार के रूप में नहीं, बल्कि ऐसे लेखक के रूप में लिया जाता है जिसने साहित्य को मनुष्य की मुक्ति, सामाजिक न्याय और मानवीय सह-अस्तित्व का माध्यम बनाया। वह प्रगतिशील लेखक आंदोलन की उस परंपरा के प्रतिनिधि रचनाकार हैं जिन्होंने साहित्य को समाज की नैतिक चेतना से जोड़कर देखा। उनकी रचनाओं में करुणा, व्यंग्य, सामाजिक यथार्थ और मानवीय उम्मीद का अद्भुत संतुलन दिखाई देता है। उनका नाटक 'दरवाज़े खोल दो' इसी दृष्टि का एक महत्वपूर्ण उदाहरण है। यह नाटक केवल रंगमंचीय मनोरंजन नहीं, बल्कि भारतीय समाज में फैलती सांप्रदायिकता, अविश्वास, वर्गीय असमानता और मानसिक संकीर्णता के विरुद्ध गंभीर सांस्कृतिक हस्तक्षेप है।

यह नाटक उस ऐतिहासिक दौर की उपज है जब भारत विभाजन की त्रासदी से गुजर चुका था और समाज के भीतर धर्म तथा पहचान के आधार पर गहरी दरारें पैदा हो चुकी थीं। कृश्न चन्दर ने विभाजन की पीड़ा को बहुत निकट से देखा था। उनकी कहानियों और उपन्यासों में विस्थापन, भय और टूटते मानवीय संबंधों की पीड़ा बार-बार सामने आती है। 'दरवाज़े खोल दो' उसी अनुभव की नाटकीय अभिव्यक्ति है। यह नाटक बताता है कि नफ़रत अचानक पैदा नहीं होती; उसे योजनाबद्ध ढंग से पैदा किया जाता है। राजनीति, सत्ता और स्वार्थी ताकतें मनुष्य को समुदायों में बांटकर उसका इस्तेमाल करती हैं। ऐसे समय में साहित्य का दायित्व केवल मनोरंजन करना नहीं, बल्कि मनुष्य की चेतना को जगाना भी होता है।

नाटक का शीर्षक ही अपने भीतर गहरी प्रतीकात्मकता समेटे हुए है। "दरवाजा" यहां केवल घर का दरवाजा नहीं है। वह मनुष्य की मानसिकता, उसकी संवेदना, संवाद और सह-अस्तित्व का प्रतीक है। बंद दरवाजा भय, अलगाव और संकीर्णता का प्रतीक बन जाता है, जबकि खुला दरवाजा विश्वास, संवाद और साझी मनुष्यता का। कृश्न चन्दर इस प्रतीक के माध्यम से पूरी सामाजिक संरचना की आलोचना करते हैं। वह मानो कहना चाहते हैं कि सभ्यता की रक्षा दीवारें ऊंची करने से नहीं, बल्कि दरवाजे खोलने से होती है।

नाटक का आरंभिक दृश्य ही उसके वैचारिक स्वर को स्पष्ट कर देता है। "कमलकुंज बिल्डिंग" का निर्माणाधीन ढांचा केवल एक इमारत नहीं, बल्कि उस आधुनिक भारतीय समाज का प्रतीक है जिसकी बाहरी संरचना तो आधुनिक दिखाई देती है, लेकिन भीतर अब भी संकीर्ण मानसिकता और सामाजिक विभाजन मौजूद हैं। दीवारों पर नई सफेदी है, बिजली के खुले तार हैं, सीमेंट और रंग के डिब्बे पड़े हैं—यह सब मिलकर एक अधूरे समाज की तस्वीर बनाते हैं। कृश्न चन्दर मंच-सज्जा के माध्यम से ही यह संकेत दे देते हैं कि यह आधुनिकता अभी अधूरी है।

इस दृश्य में पंडित रामदयाल का चरित्र विशेष महत्व रखता है। गणेशजी की तस्वीर के नीचे बैठा यह व्यक्ति केवल एक मकान-मालिक नहीं, बल्कि उस भारतीय मध्यवर्ग का प्रतिनिधि है जो परंपरा, भय, सामाजिक दबाव और नैतिक दुविधाओं के बीच फंसा हुआ है। कृश्न चन्दर की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह अपने पात्रों को एकरेखीय नहीं बनाते। रामदयाल केवल खलनायक नहीं है। उसके भीतर सामाजिक पूर्वाग्रह भी हैं और मनुष्य के रूप में संवेदना की संभावना भी। यही कारण है कि वह वास्तविक और विश्वसनीय चरित्र बन जाता है।

नाटक में मिर्ज़ा इरशाद हुसैन का चरित्र भी उल्लेखनीय है। वह रामदयाल के टाइपिस्ट हैं और दोनों का साथ बैठकर पान खाना भारतीय साझी संस्कृति की एक सहज तस्वीर प्रस्तुत करता है। यह दृश्य बहुत अर्थपूर्ण है क्योंकि यह बताता है कि रोजमर्रा के जीवन में मनुष्य एक-दूसरे के साथ रह सकते हैं, लेकिन सामाजिक और राजनीतिक संरचनाएं उनके बीच अविश्वास पैदा करती हैं। कृश्न चन्दर इस छोटे-से मंचीय दृश्य के माध्यम से भारतीय समाज की गहरी विडंबना को उजागर करते हैं।

नाटक का एक अत्यंत महत्वपूर्ण पक्ष उसका वर्गीय यथार्थ है। कृश्न चन्दर केवल सांप्रदायिकता की आलोचना नहीं करते, बल्कि पूंजीवादी लालच और सामाजिक असमानता को भी उजागर करते हैं। जब एक साधारण खिड़की, दरवाजे और स्टूल के चार हजार रुपये अलग से मांगे जाते हैं, तब स्त्री पात्र का यह प्रश्न—"ये फर्नीचर आप किस वस्तु से बनाते हैं? सोने से, चांदी से कि शेर की खाल से?"—पूरे पूंजीवादी समाज पर तीखा व्यंग्य बन जाता है। पुरुष पात्र का उत्तर—"ये फर्नीचर आदमी की खाल से तैयार होता है"—नाटक की सबसे मारक पंक्तियों में से एक है। यह संवाद बताता है कि आधुनिक शहरी सभ्यता मनुष्य की मेहनत, पीड़ा और शोषण पर खड़ी है।

यहां कृश्न चन्दर का मार्क्सवादी दृष्टिकोण स्पष्ट दिखाई देता है, लेकिन वह विचारधारा को नारे में नहीं बदलते। उनकी सबसे बड़ी ताकत यह है कि उनके यहां विचार मानवीय अनुभवों से पैदा होते हैं। वह किसी अमूर्त क्रांति की बात नहीं करते; उनका साहित्य रोजमर्रा के जीवन में मनुष्यता बचाने की चिंता करता है। यही कारण है कि 'दरवाज़े खोल दो' वैचारिक होते हुए भी भावुक या उपदेशात्मक नहीं बनता।

नाटक की भाषा उसकी सबसे बड़ी शक्तियों में से एक है। कृश्न चन्दर जटिल सामाजिक प्रश्नों को बेहद सरल और संवादधर्मी शैली में प्रस्तुत करते हैं। उनकी भाषा साहित्यिक होते हुए भी बोझिल नहीं लगती। उसमें आम आदमी की जबान की गर्मी और आत्मीयता है। संवाद स्वाभाविक हैं और पात्रों की सामाजिक पृष्ठभूमि के अनुरूप विकसित होते हैं। यही कारण है कि नाटक में वैचारिक बहस होते हुए भी कृत्रिमता नहीं आती।

रेडियो माध्यम पर इस नाटक की सफलता भी इसकी भाषिक शक्ति का प्रमाण है। जब कोई नाटक चौदह भारतीय भाषाओं में प्रसारित होता है, तो इसका अर्थ है कि उसकी संवेदना स्थानीय सीमाओं से ऊपर उठकर व्यापक भारतीय अनुभव का हिस्सा बन चुकी है। कृश्न चन्दर की भाषा संवाद की भाषा है; वह विभाजन नहीं, जुड़ाव पैदा करती है।

नाटक का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष उसकी सांप्रदायिकता-विरोधी चेतना है। कृश्न चन्दर यह समझते थे कि सांप्रदायिकता केवल राजनीतिक समस्या नहीं, बल्कि मानसिक संरचना का संकट भी है। मनुष्य के भीतर बैठा भय उसे दूसरों से काट देता है। यही कारण है कि नाटक बार-बार संवाद और सह-अस्तित्व की आवश्यकता पर जोर देता है। कृश्न चन्दर मानते हैं कि भारत जैसे बहुभाषी और बहुधार्मिक देश में विविधता कमजोरी नहीं, बल्कि ताकत है। यदि लोग एक-दूसरे के प्रति अविश्वास पालने लगें, तो राष्ट्रीय एकता केवल राजनीतिक नारा बनकर रह जाएगी। कृश्न चन्दर की रचनात्मकता की सबसे बड़ी पहचान उनका व्यंग्य है। उनके यहां करुणा और व्यंग्य साथ-साथ चलते हैं। वह समाज की विसंगतियों को उजागर करते हैं, लेकिन मनुष्य से उम्मीद नहीं छोड़ते। यही कारण है कि उनका साहित्य निराशा का साहित्य नहीं बनता। 'दरवाज़े खोल दो' में भी वह मनुष्यता की संभावना को बचाए रखते हैं। यह नाटक केवल नफ़रत की आलोचना नहीं करता, बल्कि विश्वास और संवाद की संभावनाओं को भी रेखांकित करता है।

नफरत और सांप्रदायिकता के खिलाफ इप्टा की प्रस्तुति

इस नाटक को प्रगतिशील लेखक आंदोलन की पृष्ठभूमि में समझना आवश्यक है। यह वह दौर था जब साहित्यकारों ने साम्राज्यवाद, सांप्रदायिकता, पूंजीवादी शोषण और सामाजिक अन्याय के विरुद्ध लेखन को सांस्कृतिक आंदोलन का रूप दिया। सआदत हसन मंटो, राजेन्द्र सिंह बेदी, इस्मत चुगताई और कृश्न चन्दर जैसे लेखकों ने मनुष्य की त्रासदी को साहित्य के केन्द्र में रखा। कृश्न चन्दर की विशेषता यह थी कि उनके यहां वैचारिक प्रतिबद्धता के साथ गहरी मानवीय करुणा भी मौजूद रहती है।

मंचीय दृष्टि से कुछ प्रसंगों में नाटकीय तनाव अपेक्षाकृत कम दिखाई देता है। जो अंततः मंच के निर्देशक की मंचन कुशलता की परीक्षा है। वास्तव में नाटक की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्ता इतनी विशद है कि ये छोटी कमियां गौण हो जाती हैं।

इस पुस्तक का महत्व केवल यहां नाटक तक सीमित नहीं होता है। इसमें अनुवादक ज़ाहिद खान की महत्वपूर्ण भूमिका, कृश्न चन्दर का लेखकीय वक्तव्य और ख्वाजा अहमद अब्बास की समालोचनात्मक टिप्पणी भी शामिल है। जाहिद खान ने जिस संवेदनशीलता से उर्दू की आत्मीयता और वैचारिक ताप को हिन्दी में रूपांतरित किया है, वह उल्लेखनीय है। उनका अनुवाद केवल भाषांतरण नहीं, बल्कि सांस्कृतिक सेतु-निर्माण का कार्य है।

ख्वाजा अहमद अब्बास की टिप्पणी विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिसमें उन्होंने लिखा कि कृश्न चन्दर ने यह ड्रामा लिखकर "कितने ही जंग खाए हुए दरवाजे खोल दिए हैं।" यह वाक्य नाटक की आत्मा को अत्यंत सटीक ढंग से व्यक्त करता है। वास्तव में यह नाटक मनुष्य की चेतना पर जमी हुई जंग को हटाने का प्रयास है।

अंततः 'दरवाज़े खोल दो' केवल एक नाटक नहीं, बल्कि भारतीय समाज के लिए एक मानवीय घोषणापत्र है। यह रचना हमें याद दिलाती है कि सभ्यता का भविष्य बंद दरवाजों में नहीं, खुले संवाद में छिपा है। आज जब दुनिया में असहिष्णुता, सांप्रदायिकता और विभाजन की राजनीति तेज हो रही है, तब यह नाटक और अधिक महत्वपूर्ण हो उठता है। यह हमें सिखाता है कि नफ़रत के अंधेरे में सबसे बड़ा प्रतिरोध एक खुला दरवाजा है।

कृश्न चन्दर ने इस नाटक के माध्यम से यह संदेश दिया कि समाज को बचाने के लिए दीवारें नहीं, पुल बनाने होंगे। मनुष्य को मनुष्य से जोड़ना ही साहित्य का सबसे बड़ा दायित्व है। यही कारण है कि 'दरवाज़े खोल दो' आज भी केवल पढ़ा जाने वाला नाटक नहीं, बल्कि हमारे समय की नैतिक और सांस्कृतिक जरूरत बनकर सामने आता है। ■

कृश्न चन्दर समाज की विसंगतियों को उजागर करते हैं, लेकिन मनुष्य से उम्मीद नहीं छोड़ते। यही कारण है कि उनका साहित्य निराशा का साहित्य नहीं बनता। 'दरवाज़े खोल दो' में भी वह मनुष्यता की संभावना को बचाए रखते हैं

Published Date 05 July, 2026 (Sunday), Posted at LPC Delhi RMS, Delhi-06, Posting Days Friday and Saturday

'हम दिन में सिर्फ एक बार खाना बनाते हैं'

घरेलू गैस संकट ने कचरा बीनने वालों का संकट बढ़ा दिया है। उनके लिए सहारा बन रही हैं कचरे से बीनी गई लकड़ियां

संस्कृति तलवार

लकड़ी की पुरानी बल्लियां जलाकर खाना पकाती रुख़साना बीबी और दिल्ली के भलस्वा लैंडफिल में कचरा छांटती महिलाएं

रुबीना बीबी बताती हैं, "अब कोई भी इकट्ठा की हुई लकड़ी के टुकड़े नहीं बेचता। इन्हें वो अपने चूल्हे जलाने के लिए रखते हैं।" वह अपनी झुग्गी के बाहर बैठी हैं और लकड़ी का एक तख्ता तोड़ रही हैं, जो कभी एक दरवाजा था।

रुबीना का कहना है कि पांच लोगों के उनके परिवार का खाना पकाने के लिए "ये दो तख्ते लग जाएंगे।" फरवरी 2026 में अमेरिका और इसराइल द्वारा ईरान पर युद्ध छेड़ने के बाद से लिक्विफाइड पेट्रोलियम गैस (एलपीजी) की कीमतें काफी बढ़ गई हैं। अब दो किलो के सिलेंडर की कीमत 440 से 500 रुपये तक है, जो जंग से पहले ब्लैक मार्केट में चल रही कीमत से दोगुने से भी ज्यादा है।

कचरा बीनकर गुजर-बसर करने वाले इस परिवार के लिए खाना पकाने की खातिर लकड़ी के टुकड़े अब जरूरी हो गए हैं। रुबीना के मुताबिक हफ्तेभर में वो लगभग पांच किलो लकड़ी ही इकट्ठा कर पाते हैं या "हम पांच रुपये किलो के हिसाब से लकड़ी खरीदते हैं।"

रुबीना, उत्तर-पश्चिम दिल्ली के भलस्वा इलाके में कचरा बीनने वालों की बस्ती में रहती हैं। यहां के तकरीबन सभी बाशिंदे पश्चिम बंगाल के पश्चिम मेदिनीपुर जिले से आए पहली और दूसरी पीढ़ी के प्रवासी हैं। ये लोग तीन-चार मंजिला ऊंचे कचरे के पहाड़ के बगल में रहते हैं। पुरुष सड़कों, घरों और नगरपालिका की डंप साइटों से कचरा इकट्ठा करते हैं, तो महिलाएं प्लास्टिक की बोतलें, पाउच, रबर, कांच, थर्मोकॉल वगैरह अलग करती हैं, जिन्हें बाद में कबाड़ियों को बेचा जाता है।

गर्मियों की बारिश के चलते झुग्गी-झोपड़ियों वाली इस बस्ती में पानी भर गया है। बस्ती के चारों ओर फेंके गए कचरे से तेज गंध उठ रही है। घरों के बीच तंग गलियों में रीसायकल होने लायक कचरे की बोरियां एक-दूसरे के ऊपर रखी हैं। ये गलियां जिन संकरे रास्तों पर खत्म होती हैं, उनमें से एक बार में एक ही शख्स निकल सकता है।

ज़ुबैदा बीबी ने पारी को कोने में जमा लकड़ी के टुकड़ों का ढेर दिखाया। पश्चिम मेदिनीपुर के बनपुरा गांव की ज़ुबैदा कहती हैं, "बड़े घरों में रहने वाले लोग हमसे इन्हें दूर फेंकने को कहते हैं।"

रिहायशी सोसायटियों से कचरा इकट्ठा करने वाले ज़ुबैदा के पति शाहजहां ख़ान पिछले कुछ महीनों से टूटे फर्नीचर जैसी बेकार पड़ी लकड़ी पर नजर रखे हुए हैं, क्योंकि इनका इस्तेमाल ईंधन की तरह किया जा सकता है।

अब एलपीजी का इस्तेमाल बहुत कम होता है। दो किलो का रिफिल ज़ुबैदा के परिवार में हफ्ते भर चलता है और इसका इस्तेमाल केवल चावल पकाने और खाना या दूध गर्म करने में किया जाता है। खाना पकाने का ज्यादातर काम शाहजहां ख़ान द्वारा एकत्रित लकड़ी के टुकड़ों पर चलता है।

तीस-पैंतीस साल का यह जोड़ा कहता है, "जब हमें जलाने को कबाड़ नहीं मिलता, तो खाना पकाना मुश्किल हो जाता है।" तब वो रस्सियों का और अपने अस्थायी घर में लगे सामान और बल्लियों को खोलकर उन्हें इस्तेमाल करते हैं।

ज़ुबैदा कहती हैं, "हम रस्सियां काटते हैं और कुछ बल्लियां निकाल लेते हैं। उन्हें ईंधन की तरह इस्तेमाल करके थोड़ा चावल पकाते हैं।"

पास की एक झोपड़ी में उनकी ननद रुख़साना बीबी दोपहर के खाने में 'माछ-भात' (मछली और चावल) पका रही हैं। वह पुरानी बल्लियां जला रही हैं, जिन्हें उन्होंने कुछ साल पहले नई बल्लियां लगाने के बाद बचाकर रख लिया था।

उनके पति मुज़ीमर मीर ने बताया, "हमने उन्हें चूल्हा जलाने को जमा किया था।" मुज़ीमर (30) सुबह के समय यहां से करीब पांच किलोमीटर दूर बुराड़ी में एक डंप साइट पर कचरा बीनते हैं। पास की झोपड़ी में तेज आवाज में बांग्ला संगीत बज रहा है। इसी दौरान वह पारी को बताते हैं, "नगरपालिका के ट्रकों से आने वाले कचरे में टूटी कुर्सियां, खाट और दरवाजे भी मिल जाते हैं।"

महंगे मिट्टी के तेल के बिना लकड़ी का चूल्हा जलाना आसान नहीं होता। इसलिए महिलाएं फेंके हुए प्लास्टिक के पाउच और चिप्स के पैकेट इस्तेमाल करती हैं। पूर्बा मेदिनीपुर जिले के ब्रजलाल चक गांव की 55 वर्षीय सूफ़िया बीबी कहती हैं, "मैं पहले प्लास्टिक के दो-तीन रैपर जलाती हूं और फिर चूल्हे में लकड़ी डालती हूं।"

प्लास्टिक जलाने की वजह से निकला जहरीला धुआं हर तरफ फैल जाता है। कुछ ही मीटर दूर लैंडफिल में जगह-जगह छोटी-छोटी आग जल रही है, जिनसे जहरीले और हानिकारक केमिकल और बारीक कण हवा में जाकर मिल रहे हैं।

तपती हुई गर्मियों के दौरान कचरा बीनने के काम में गिरावट आती है और उसे छांटने में लगने वाला समय कम हो जाता है। जो परिवार महीने में 10,000 से 15,000 रुपये तक कमा लेते हैं, वे कहते हैं कि इस दौरान उनकी कमाई आधी रह जाती है।

ज़ुबैदा अपने दुपट्टे से पसीना पोंछते हुए बता रही हैं, "इन गर्मियों में जब हमारी कमाई ही इतनी कम है, तो हम हर हफ्ते गैस रिफिल पर 500 रुपये कहां से खर्च कर पाएंगे? बच्चों के स्कूल की फीस, ट्यूशन फीस और भी कई तरह के खर्चे होते हैं।"

वह आगे जोड़ती हैं, "हम बंगाली लोग चावल के साथ ही बर्तन में आलू भी डाल देते हैं। चावलों के साथ आलू भी पक जाते हैं। फिर हम आलू निकालकर उसका भर्ता बना लेते हैं।"

"हम दिन में सिर्फ एक बार खाना बनाते हैं, ताकि हमारे पास जो लकड़ी के टुकड़े हैं, वे देर तक चल सकें।" ■

अमेरिका और इसराइल द्वारा ईरान पर युद्ध छेड़ने के बाद से एलपीजी की कीमतें काफी बढ़ गई हैं। अब दो किलो के सिलेंडर की कीमत 440 से 500 रुपये तक है, जो जंग से पहले ब्लैक मार्केट में चल रही कीमत से दोगुने से भी ज्यादा है

साभार: ruralindiaonline.org

ADVERTISEMENT RATE CARD

w.e.f. 1 September 2025

NATIONAL HERALD ON SUNDAY संडे नवजीवन

The AJL Group has two weekly newspapers and three website portals in English, Hindi and Urdu

www.nationalheraldindia.com | www.navjivanindia.com | www.qaumiawaz.com

Commercial Display (w.e.f 1 Sept 2025)

Category of Advertisements (C/BW)	National Herald on Sunday (National Edition)	(Mumbai)	Sunday Navjivan (National Edition)
Full Page (1650 sq.cm)	Rs 10 Lakh	Rs 8 Lakh	Rs 10 Lakh
Half Page (800 sq. cm)	Rs 6 Lakh	Rs 5 Lakh	Rs 6 Lakh
Quarter Page (400 sq. cm)	Rs 4 Lakh	Rs 3 Lakh	Rs 4 Lakh
< Quarter Page (per sq. cm)	Rs 700	Rs 450	Rs 700

PAGE PREMIUM	Display Ads BW/Color	Political Ads BW/Color
Front page	100% Surcharge	200% Surcharge
page (3 & back)	25% Surcharge	100% Surcharge
Specified page	50% Surcharge	50% Surcharge

*Advance payment is needed for all political advertisements.

Classified for festival greetings, anniversary & notices

Full page @ Rs 1,00,000 | Half Page @ 60,000

< 240 sq. cm @ Rs 175 per sq. cm

State Govt Advertisements/ C/BW

@ Rs 525 per sq. cm

The Associated Journals Limited
Herald House, 5A, Bahadur Shah Zafar Marg,
New Delhi 110002
Phone: 011-47636300 - 313
Whatsapp No: 9650400932
Email: advt@nationalheraldindia.com

Online Remittance/Bank Beneficiary Details:
Name: **Associated Journals Limited**
Bank Name: **Canara Bank**
Branch Name: **I P Estate, New Delhi-110002**
C/A No.: **90171010003955;** IFSC Code: **CNRB0019017**
GST No.: **27AAECA1180A1ZB ;** PAN No.: **AAECA1180A**

NOTE: Cheque / DD should be drawn in favor of "Associated Journals Limited" and sent to Herald House, 5-A Bahadur Shah Zafar Marg, New Delhi -110002.

General Terms and Conditions

w.e.f. 1 September 2025

National Herald on Sunday (Delhi & Mumbai) and Sunday Navjivan

1. All advertisements are published in Edition(s) of the paper and charges are payable strictly in advance of publication by Bank Draft or Bank Transfer (RTGS) and /or cheques only except in the case of advertising agencies accredited to INS.

2. Advertisements are accepted for publication on top of advertisements positions on an additional charge of 25%. No advertisement is however published on top of news-matter.Top of column position cannot be guaranteed even on payment of additional charge of 25%.

3. Extra charges for top of column position are calculated on the total amount payable inclusive of amount payable for specified pages.

4. Every reasonable effort is made to publish an advertisement on the date(s) specified by an advertiser. The Management however reserves the right to vary the date or the scheduled date(s) of publication, with or without notice to the advertiser, owing to the exigencies of availability of spaces.

5. The management reserves the right to refuse, suspend or stop, in its discretion, publication of any advertisement without assigning any reasons.

6. While every endeavour will be made by the Management to avoid publication of competitive advertisements in close proximity to one another, no guarantee can be given in this respect nor will the claims be entertained for free insertions in the event of announcements of rival product appearing on the same page.

7. The placing of an order by an Advertiser/Advertising Agency constitutes a warranty by the Advertiser/Advertising Agency to the Associate Joumals Limited Management that the Advertiser/ Advertising Agency has secured the necessary authority and permission in respect of the use in the advertisement or advertisements of pictorial representation of (or purporting to be of) living persons and all references to words attributing to living persons.

8. The advertisements will be charged at the rate applicable on the day of publication of the advertisement irrespective of the date of booking, date of release order and whether the advertisement is part of any package/scheme.

9. Standing instructions are accepted over Whatsapp or email. However verbal instructions must be clear and specific. Quoting reference of the previous release order and/or new scheduled dates of insertions in respect of which the instructions are given. These instructions should be given afresh either through Whatsapp/email and/or Landline phone.

10 Booking of space for premium positions in all The Associated Journals Limited publications will be confirmed only upon receipt of original releaseorder. Fax/Scanned copies, Emails will be entertained for the same.

11. "Reader" advertisements are accepted but will be distinguished from 'news matter' by a rule around the advertisement matter and expression 'advt' will be added at bottom.

12. Solus/Semi Solus positions cannot be guaranteed on the front page.

13. Cancellation charges @20% of the total cost of the front/Full page advertisement shall be levied if a cancellation of booking is made two days before the scheduled date of publication. Cancellation charges @35% of the total cost of the full front-page advertisement shall be levied if the cancellation of a booking of front/full page advertisement is made one day before the scheduled date of the publication.

14. In the event of printing mistake, omission or non-publication of advertisement, the advertising agencies shall have to furnish the instructionson behalf of their client for republication. In the event of a dispute the liability of Management shall be restricted to the amount received against sale of spaces for the advertisement received. All disputes /claims regarding advertisement /complaints must be made within a period of one month of publication date after which no claim will be entertained.

15. The Management shall not be responsible for any loss or damage caused by an error or inaccuracy in the printing of/or omission in inserting advertisements.

16. In case of dispute, the agency shall not be entitled to invoke any condition suggestive of existence of an arbitration agreement unless specifically agreed to by the Management.

17. No deduction is allowed from bills raised against publication of advertisement(s) on account of any defective insertion(s). Any claims in these respects, if admitted, will be met by publishing a corrigendum/ free insertion or the like, depending upon the merits of the claim vis-a-vis the error in publishing the advertisement(s) or other materials. Claims for refund or for compensation, if admitted, shall be restricted to the charges for advertisement received by Management. The decision of the management shall be final in this regard.

18. The advertisements released by Government/Semi Government/ Undertakings/Autonomous body are published in classified display column only at commercial rates irrespective of the number of words.

19. The advertising agencies releasing an advertisement on behalf of its client shall be deemed to have undertaken to keep the management indemnified in respect of costs, damages or other charges incurred by the Management as a result of any legal action or threatened legal action arising from and in relation to publication of any advertisement published in accordance with the release order and the copy of instructions supplied by the agency.

20. The agency shall bring to the notice of its clients these General Terms and it shall not be open to any of its clients to plead/claim or aver ignorance of these General Terms which apply to every transaction of sale of space in particular issue(s) of any of publications of The Associated Joumals Limited.

21. No agency commission is payable on the on the classified advertisements chargeable at DAVP rates.

22. Fraction of centimetre in excess of the scheduled size shall be charged as full centimetre if the advertisement exceeds the scheduled size. If the material supplied is shorter than the scheduled size, the advertisement will be charged for the size scheduled and not for theactual space occupied or consumed by the advertisement on the basis of the short size material so supplied.

23. The Management shall not be bound by notice of stoporders, cancellations, preponements/postponements or alterations/deletions/ additions in the material(s) of advertisement(s) booked for publication in special or specified position if received less than one week prior to dates of insertion. For ordinary advertisement, the stoppage or not of cancellation must reach at least four days before the scheduled date of publication of advertisement.

24. The Management reserves the rights to revise the rates and terms and conditions without any notice.

25. Every Advertiser/Advertising Agency acknowledges having read and accepted these Terms and Conditions.

26. Courts only in New Delhi, shall have the jurisdiction to entertain and decide all disputes and claims, arising out of publication of any advertisement in the Associate Journals limited publications.

27. The Management shall be at liberty to refuse to carry advertisements/ adjust amounts paid for subsequent ads against pre-existing liabilities, even without carrying such subsequent advertisement.

28. Advertising party hereby agrees to indemnify, defend and hold harmless AJL, it's directors, officers, shareholders and agents against any and all third party claims arising out of or in connection with the content or placement of the advertisement, and to the fullest extent.

29. In no event shall AJL be liable hereunder for any indirect, incidental, special, consequential, punitive or exemplary damages or losses in connection with these terms even if advised in advance of the possibility of arising of such liability, damages or losses.

30. In no event shall AJL's aggregate liability exceed Rs. 10,000 to any advertising party.